मधु-मंजरी

(प्रतिनिधि कहानी-संग्रह)



प्रकाशक

दक्षिण भारत हिन्दुस्तानी प्रचार सभा,

त्यागरायनगर, मद्रास

 १९५८ [क़ीमत २)

हिन्दी प्रचार पुस्तक-माला—पुष्प सं. ७४

पहली बार—फ़रवरी १९३४ - २.
दूसरी बार—जून १९४८ - ४.

हिन्दुस्तानी प्रचार प्रेस, मद्रास

कुछ अपनी—

हिन्दी में कहानियां की और कहानी-संग्रहों की कमी नहीं है। एक से एक बढ़िया कहानी-संग्रह निकले हैं और निकल रहे हैं। मगर 'सभा' की ज़रूरतें उनसे सौ फ़ी सदी पूरी न हो सकीं। इसलिये अपनी ज़रूरतों को मद्देनज़र रख एक ऊँची श्रेणी का प्रतिनिधित्व-पूर्ण संग्रह करने की ज़रूरत अरसे से महसूस की जा रही थी। और उसी का फल यह संग्रह है।

इसके संग्रह और संपादन में जो बातें ख़्याल में रखी गयी हैं, उनको बता देना वाजिब है। आज हिन्दी में—सौभाग्य से—ऊँचे दर्जे के कहानी लेखक इतनी बड़ी संख्या में हैं कि उनकी एक एक कहानी भी किसी संग्रह में दी जाय तो एक बड़ा पोथा बन जायगा। इसलिये चुनाव का काम और भी मुश्किल हो जाता है। किनकी कौन कहानी लें और कौन छोड़ें? इसलिये कुछ ख़ास सिद्धान्तों को सामने रखकर संग्रह का काम शुरू हुआ। यों हिन्दी की कहानियों को अलग अलग ढंग से कई भागों में बाँटा जा सकता है—टेकनीक को लेकर, भावनाओं को लेकर, शैली को लेकर इत्यादि। मगर इसमें कहानियों के समूह न करके प्रमुख लेखकों को अलग अलग समूहों में बाँट दिया गया है। जैसे स्वर्गीय प्रेमचन्द जी को सामाजिक कहानी लेखकों के समूह में तो जैनेन्द्र जी को मनोवैज्ञानिक

कहानी लेखकों के समूह में। इसका यह अर्थ नहीं कि प्रेमचन्द ने मनोवैज्ञानिक, भावात्मक या प्रगतिवादी कहानियाँ नहीं लिखीं। किसी लेखक को किसी खास श्रेणी में रखने का मतलब इतना ही है कि उक्त लेखक की कहानियों में उस खास तरह की कहानियों की अधिकता है और उसमें वह अन्य विभागों से ज़्यादा सफल हुआ है।

हर समूह में भी हमने तीन तीन लेखक ही लिये हैं और उन्हें रचनाकाल के क्रम से स्थान दिया है—किसी को बड़ा या छोटा बतलाने की कोशिश नहीं की गयी है। स्वभावतः हर समूह में बहुत से अच्छे प्रतिभाशाली, सुन्दर कहानी लेखक छूट गये हैं। खासकर सर्वश्री सुदर्शन, राजा राधिका रमण, ज्वालादत्त शर्मा, बख़्शी जी, राय कृष्णदास, विनोद शंकर व्यास, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, सुभद्राकुमारी चौहान, कमलादेवी चौधरी, सियारामशरण गुप्त, राधाकृष्ण, राजेश्वर प्रसाद, वीरेश्वरसिंह, शिवपूजन सहाय, प्रो. द्विज, वाचस्पति पाठक, पहाड़ी, अश्क, जी. पी. श्रीवास्तव, परिपूर्णानन्द वगैरह लेखकों की कहानियाँ न दे सकने का हमें मलाल है। अगर उनकी कृपा रही तो हम किसी दूसरे संग्रह में उनकी रचनायें प्रकाशित कर दक्षिण के हिन्दी प्रेमियों को भेंट करेंगे। उस हद तक यह संग्रह अपूर्ण ही है।

हमने चार समूहों की कहानियाँ ली हैं। यहाँ भी स्थानाभाव के कारण चाहते हुए भी सामाजिक कहानियों से पहले की जासूसी व तिलस्मी और व्यंग तथा हास्य-प्रधान कहानियों के नमूने नहीं दे सके। यह भी लाचारी ही है—इस काग़ज़ की कमी के ज़माने में।

जिन लेखकों की कहानियाँ इस संग्रह में ली गयी हैं, वह भी उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना मानकर नहीं, बल्कि भाषा, टेकनीक, स्वभाव वग़ैरह को ध्यान में रखकर औसत दर्जे की कहानी ही ली गयी है। इसलिये कई जगह हमें इच्छा के विरुद्ध कहानी चुनना पड़ी है।

इस संग्रह के अंत में 'उसने कहा था' कहानी भी परिशिष्ट के रूप में जोड़ दी गयी है। इस कहानी के लेखक पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने– जो अकाल ही स्वर्गस्थ हुए—यद्यपि तीन ही कहानियाँ लिखी हैं; मगर यह कहानी एक मणि है, जो हिन्दी साहित्य के हृदय पर कौस्तुभ की तरह झूलती रहेगी। इसलिये इसे हम नहीं छोड़ सके।

हर लेखक को विस्तृत जीवनी, उनकी रचनाओं की पूरी (जहाँ तक मिल सकी) तालिका, उनकी कला और शैली की ख़ूबियाँ तथा इस संग्रह में आयी कहानी की विशेषता बताने की कोशिश की गयी है। यह विद्यार्थियों को ध्यान में रखकर किया गया है।

इस संग्रह के तैयार करने में हमें समय कम मिला। फिर भी हमने सब लेखकों या अन्य अधिकृत सज्जनों से इसकी अनुमति ली है। उन सब के प्रति हम अपना हार्दिक धन्यवाद अर्पित करते हैं। हाँ, 'उग्र' जी को हम नहीं ढूँढ़ पाये। वे माफ़ करेंगे।

इस संग्रह के संग्रहकर्त्ताओं की हैसियत से हम श्री ब्रजनन्दन शर्मा तथा श्री पी. वेंकटाचल शर्मा के आभारी हैं।

—प्रकाशक

निर्देशिका



कहानी का विवेचन

परिभाषा—

कहानी जन-सामान्य के जीवन की सरल कविता है। छंद, रस और अलंकार के नियमों से युक्त कविता करना सब के भाग्य में नहीं होता। उसके लिए प्रतिभा का विशेष वरदान चाहिए। लेकिन कहानी में मनुष्य जो कुछ कहना चाहता है, आसानी से कहता आया है। और आदमी कुछ कहे बिना नहीं रह सकता। क्योंकि वह कल्पनाशील है और उसमें अनुभूति तड़पती रहती है।

उत्पत्ति—

कहानी कब और क्यों पैदा हुई? इसका उत्तर आसान नहीं है। शायद मनुष्य के साथ ही कहानी भी जनमी होगी। आदमी एक विचित्र प्राणी है। वह ज़मीन पर रहता है। परंतु उसकी नज़र आकाश-पाताल सभी ओर जाती रहती है। उसके लिए नीला आसमान सूना नहीं है। तारों से उसने अपनापन स्थापित किया है। सप्तर्षि को 'सतभैया' कहा, चँद्रमा से 'मामा' का नाता जोड़ा। 'ध्रुव' में भी अपनी जाति के एक बालक को बिठा दिया। सूना आसमान उसके देवता का घर बन गया। उसके पैर ज़मीन पर थे। परन्तु उसका मन जगमग जगत में घूमता था। मरने के बाद भी वह उसी देव-लोक में जाकर बसने की इच्छा करने लगा। आसमान उसके अरमानों का घर हो गया।

आदमी की शक्ति सीमित है। न वह पक्षी की तरह हवा में उड़ सकता है और न मछली की तरह अगाध जल-राशि के गर्भ में जाकर सो सकता है।

फिर भी उसमें एक ऐसी ताकत है, जो उसके सभी अभावों को दूर कर देती है। यही नहीं, इसी शक्ति के कारण वह कुदरत के सभी जीवों का राजा भी बनता आया है। वह शक्ति है उसकी कल्पना।

अनंत आकाश में, न मालूम कहाँ से, काले काले बादल उमड़ आए। घन-घोर वर्षा होने लगी। रह-रहकर धरती-आसमान को थर्राती बिजली चमकने लगी। आदमी की आँखों में चकाचौंध छा गई और उसके कानों के पर्दे फट गए। वह डरा, सिहरा, काँपा। लेकिन पराजित नहीं हुआ।

उसने झट बादलों को इंद्र के शासन में खड़ा कर दिया और वह इंद्र को प्रसन्न करके बादलों से भी बड़ा बन गया। इंद्र के बलपर वह जब चाहेगा बादल उसकी ख़िदमत में हाथ जोड़कर आ खड़े होंगे।

अपार सागर को देखकर उसका होश उड़ गया। बड़वानल की कहानी तो उसको और भी अचरज में डाल गई। लेकिन वह समुद्र से हारनेवाला थोड़े ही था। उसने झट वरुण देवता को सागर की लहरों पर हुकूमत करने के लिए बिठा दिया।

अंधड़-तूफ़ान, सर्दी-गर्मी, रोग-व्याधि, यहाँ तक कि स्वयं मृत्यु के ऊपर भी मनुष्य की कल्पना हावी हो गई। प्रकृति के ऊपर विजय प्राप्त कर वह गर्व से चिल्ला उठा—"कस्मै देवाय हविषा विधेम?"

मानव की इस अद्भुत शक्ति का सब से आदिम प्रयोग कहानी में हुआ है। और वह प्रयोग इतना सफल, इतना आकर्षक और इतना मोहक साबित हुआ कि दिन-दिन उसकी उन्नति होती गई। आदमी जैसे-जैसे सभ्य होता गया, जैसे-जैसे उसमें शिक्षा का विस्तार हुआ और जैसे-जैसे उसमें विवेक की मात्रा बढ़ी वैसे-वैसे उसकी कल्पना भी तरक्की करती गई।

शरीर की ज़रूरतों के लिए सूरज का राज्य था। जब तक वह चमकता रहा, आदमी भी खाने-पीने की फ़िकर में जंगल-पहाड़ लाँघता रहा। जहाँ वह छिपा और शाम हुई, वहाँ उसकी कल्पना का राज्य आ बसा। बूढ़ी

नानी को घेरकर सुकुमार बच्चे आ बैठे। नानी कहने लगी—'एक राजा था। उसके तीन रानियाँ थीं, और सात राजकुमार।' कौतुक, जिज्ञासा और धड़कन-भरे दिल से भोले-भाले बच्चे 'हूँ-हूँ' करते नानी की कहानी सुनते रहे। जब कभी नानी ज़रा दम लेना चाहती कि बच्चे बीच में पूछ उठते—"तब क्या हुआ, नानी ?"

कौन कह सकता है कि इस बीसवीं सदी का सयाना और सभ्य मानव उस नानी के ज़माने के कहानी-पसंद बच्चों से बहुत आगे बढ़ गया है ? नहीं, कहानी सुनने की हमारी तन्मयता, हमारा लोभ और हमारी उत्सुकता—कम होने के बजाय—दिन-दूनी रात चौगुनी बढ़ती ही गई है।

साहित्य मनुष्य की कल्पना का मनोरम साम्राज्य है। उसमें उसकी वासना, रुचि, आकांक्षा और पुरुषार्थ तारों भरे आसमान की तरह जगमगा रहा है। लेकिन उसके मूल में है कहानी। कहानी—हाँ, कुछ कहने की बेबसी और ममता।

साहित्य का पहला लिखित रूप भले ही दुनियाँ का महाकाव्य हो। परंतु यह तो मानी हुई बात है कि सैकड़ों बरसों तक जनता की ज़बान पर जो कहानी चलती आई थी, उसी को महाकवियों ने छंद, रस और अलंकारों से सजाकर काव्य का रूप दिया है। नाटकों में कहानी का ही महत्त्व छिपा हुआ है।

मनुष्य की आदिम-कल्पना अनुभूति का रूप धारण करती चली आई है। वह आँखों से देखता है, कानों से सुनता है और मन से सोचता है। और इन सब क्रियाओं का सार छन-छन कर उसके हृदय में अनुभूति बनता जाता है। जैसे दूध का सार मक्खन है, उसी तरह अनुभव का मथित सार है अनुभूति। मानव के हृदय में यह अनुभूति सघन होती जाती है—जैसे भाप से बादल बनता रहता है। और जब वह तीव्र हो उठती है—जैसे बादल में हवा का झोंका लगता है,—तब उसमें गति आ जाती है। और

गतिशील अनुभूति बरस पड़ने को बेचैन बन जाती है। अनुभूति की इसी बेचैनी को—संवेदन-शील मानव-हृदय के इसी आत्म-प्रकाश को—अभिव्यक्ति नाम दिया जाता है। और यही अभिव्यक्ति साहित्य, संगीत और शिल्प-कला की जननी है।

कहानी में शिक्षा—

आदमी की कल्पना से कहानी का जन्म हुआ था। उस समय मनोरंजन ही कहानी का उद्देश्य था। धीरे-धीरे उसकी लोक-प्रियता ने शिक्षा का सूत्र भी उसके हाथों में सौंप दिया। उपदेश की बातें आदमी को पसंद नहीं पड़ती हैं। यह उसका स्वभाव है। "सच बोलो। धर्म से चलो। झूठ न बोलो।"—आदि विधि-निषेध की बातें सुनकर आदमी ऊब उठता है। यह भी आदमी की बड़ी विचित्रता है। और यह विचित्रता बच्चे से लेकर बूढ़े तक, पंडित से लेकर मूर्ख तक, औरत से लेकर मर्द तक—सबों में एक समान पाई जाती है। इसका कारण शायद मनुष्य का अमर अहंकार ही है। कारण कुछ भी हो, पर सच बात तो यह है कि ज्ञान-उपदेश की कोरी बातें आदमी के गले के नीचे नहीं उतरती हैं—ठीक कुनैन की गोलियों की तरह।

विद्वानों ने इस बात को परखा और कहानी की माधुरी मिलाकर शिक्षा देने का सिलसिला शुरू किया। एक राजा के सभी लड़के खेल-कूद में ऐसे मगन हो गए थे कि पढ़ने-लिखने का नाम सुनते ही उन्हें बुख़ार चढ़ आता था। राजकुमारों को राजनीति का ज्ञान आवश्यक था। लेकिन उनको शिक्षा कैसे दी जाए? राजा ने विद्वानों के सामने यह समस्या रखी और उन्हें ललकारा। एक कल्पना-शील आदमी साहस के साथ आगे बढ़ा और छः महीनों में ही राजकुमारों को राजनीति में पंडित बना देने का उसने बीड़ा उठा लिया। वह विद्वान खिलाड़ी के वेश में उन राजकुमारों के पास गया और बोला—एक नया खेल सीखोगे? खेल-पसंद राजकुमार उसको घेर कर खड़े हो गए—सिखाओ। खेलते-खेलते उसने कहा—एक कहानी सुनोगे? अत्यंत उल्लास से लड़के चिल्ला उठे—हाँ, हाँ, सुनाओ।

बस, खेल और कहानियों के द्वारा वह उन्हें राजनीति की बातें सिखाने लग गया। थोड़े ही दिनों में राजा के लड़के राजनीति की दाव-पेंच में पूरे पंडित बन गए। पंडित विष्णु शर्मा के 'पंचतंत्र' और 'हितोपदेश' की कहानियों का जन्म इसी प्रकार हुआ।

वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत, बाइबिल, कुरान—सभी में कहानियों के आधार पर ज्ञानोपदेश देने का निश्चित क्रम पाया जाता है। जहाँ-कहीं कोई विकट प्रसंग आया और ज्ञान की कोरी बातें समझ के बाहर जान पड़ीं, झट वहीं कहानी आकर खड़ी हो गई—मुश्किल को आसान बनाने। महाभारत के महावीर भीष्म शरों की सेज पर सोए हुए हैं और उपाख्यानों के आधार पर युधिष्ठिर को धर्म का मर्म समझा रहे हैं। बौद्ध-साहित्य में 'जातक-कथाओं' का बड़ा आदर है। उनमें बुद्ध के पूर्व जन्म की कहानियाँ कही गई हैं। इन कथाओं के द्वारा जन-साधारण में आसान तरीक़े से धर्मोपदेश का रास्ता निकाला गया है। इसी तरह पश्चिम के यूनान में 'ईसप की कहानियों' का बड़ा मान है। ये कहानियाँ भी शिक्षा-प्रचार के लिए ही रची गई हैं। इन कहानियों पर पंचतंत्र का बड़ा प्रभाव पड़ा है।

कहानी में मनोविज्ञान—

कहानी की प्रथमावस्था में कल्पना-ही-कल्पना का राज्य था। आकाश, पाताल, समुद्र और जंगल-पहाड़ ही उसके विहार-स्थल थे। अद्भुत, विस्मय-पूर्ण और अलौकिक घटनाओं का ही वर्णन होता था। यह शैशव था। शैशव में सभी संसार ऐसा ही भोला, सुहावना और परियों के पंखों पर उड़नेवाला होता है। उमर के साथ बुद्धि भी बढ़ती है। कल्पना में बुद्धि का प्रवेश हुआ और फिर हृदय-तत्व से सहानुभूति पैदा हुई। इन सबों का संघर्ष शुरू हुआ। कुछ दिनों तक घोर संग्राम चलता रहा। अपनी-अपनी प्रधानता रखने के लिए सभी बेचैन थीं। कल्पना आकाश में उड़ना चाहती थी। बुद्धि जंगल के जानवरों से आदमी की बोली में बातचीत करने को ललचाती थी। सहानुभूति कमज़ोरों पर अपनी छत्रच्छाया डालने को दौड़ी पड़ती थी।

इसी संघर्ष में विवेक पैदा हुआ। वह बलवान था। उसमें पुरुषार्थ था। उसने कल्पना, बुद्धि और सहानुभूति को एकत्र करके गले के ज़ोर से कहा—

अब यह मनमानी छोड़ो। नीले आसमान और नीले सागर की सैर-बस करो। जंगल-पहाड़ों में घूमना भी समाप्त करो। अपनी ओर देखो और फिर उसी दृष्टि से अपने पड़ोसियों को देखो। देखो, आज तक तुम ने अपने को ही ठीक से पहचाना नहीं है। झाँककर देखो, कैसा अनूठा संसार बसा है तुम्हारे मन में! क्या वैसा ही अद्‌भुत संसार तुम्हारे पड़ोसियों के भी मन में नहीं होगा? फिर उधर क्यों नहीं झाँकते हो? अभी कल की ही तो बात है। कुसुम की शादी हुई। सब ओर खुशी-ही-खुशी छाई हुई थी। पर तुम्हारे मन में आँधी क्यों चल रही थी? तुम्हारी पड़ोसिन जब पालकी पर चढ़ी, तब तुम क्यों उतावले होकर उसके पास पहुँच गए और चिल्ला उठे—'कहाँ जा रही हो कुसुम?' और फिर वह सीमंतिनी ही अपनी भींगी और बड़ी बड़ी आँखों से देखती क्यों तुम्हारी कलाई पकड़कर चीख उठी थी—'मैं नहीं जाऊँगी।' इन सब बातों का मर्म समझो और कहानी में इसका रहस्य खोलो।

विवेक की बात सुनते ही कल्पना की आँखें खुल गईं। उसने देखा—सच, आदमी तो अपने लिए आप ही अबूझ पहेली है। दिन-रात देखते रहने पर भी, निरंतर मर्म मधुर बातें सुनते रहने पर भी, परसों तक साथ रहने पर भी जिस आदमी को हम ठीक-ठीक नहीं पहचान पाते हैं, सचमुच उसका अंतर्जगत कैसा विस्मय-पूर्ण और अद्‌भुत रहस्यों से भरा हुआ होगा। इसका विचार आते ही आदमी की कल्पना, उसकी बुद्धि और उसकी सहानुभूति बाहर की घुड़-दौड़ छोड़कर मानव के ही मनोजगत की सैर करने लग गईं।

कहानी में आदर्शवाद—

भारत वर्ष में 'धर्म की जय' मानी गई है। और मनुष्य को 'धर्मात्मा' होने का आदेश दिया गया है। धर्म के धागे को पकड़ आदमी अपने सिरजन-

हार के पास तक पहुँच जाएगा। यही मानव-जीवन का आदर्श माना गया है। जो यथार्थ में नहीं पाया जाता है, उसी के लिए आदर्श बनता है। आदर्श ऊँचा होता है। और ऊँचा चढ़ना सहज ही थकानेवाला होता है। आराम-पसंद मनुष्य अगर आदर्श से घबराए तो इसमें आश्चर्य ही क्या?

आदर्श-प्रिय आदमी अपने भाग्य का सूत्र भगवान के हाथों में सौंपकर निश्चिंत बन जाता है। भगवान्, भाग्य या नियति उसे नाना नाच नचाती है और वह तटस्थ भाव से नाचता हुआ भगवान की लीला का एक पात्र बना रहता है। सुख-दुख के देश उसे व्याकुल नहीं बनाते हैं। 'भगवान की इच्छा!'—उसका यह आदर्श उसका रक्षा-कवच बन जाता है।

आदर्शवादी भी भगवान् के भरोसे हाथ-पर-हाथ धरे, चुप नहीं बैठता। वह भी कर्म-सागर में गोते लगाता रहता है। फिर भी अपना पुरुषार्थ ही उसका एकमात्र संबल नहीं होता। भगनाव की कृपा पर उसकी दृष्टि सदैव जमी रहती है। काव्य, नाटक, चंपू, कहानी वगैरह—'धर्म की जय' दिखाने के लिए ही निर्मित हुए थे। जहाँ धर्म की जय निश्चित है, वहाँ धर्मात्मा की हार कैसे हो सकती है? भीष्म बाणों से बिंधे पड़े हैं। फिर भी मृत्यु उनके हाथ में है। क्योंकि वह धर्मात्मा हैं। पांडव के कुल में कोई नहीं रह गया है। द्रौपदी के साथ चारों भाई भी हिमालय में गल गए हैं। फिर भी महाभारत में जीत उन्हीं की कही गई है। क्योंकि कृष्ण की कृपा उन पर थी। और ऐसी कृपा धर्मात्मा के ऊपर ही होती है। इसी कारण हमारे प्राचीन साहित्य में धर्मात्मा का विराट चरित्र ही उत्साह के साथ गाया गया है। और यही वजह थी कि धर्मात्मा का दुखद अंत नहीं दिखाया जा सका। बहुत दिनों तक कहानी-साहित्य पर इस आदर्श का बोलबाला रहा।

यथार्थवाद—

मनुष्य में बुद्धि है। बुद्धि तर्क-प्रिया है। तर्क हर चीज़ में कारण-कार्य का संबंध ढूँढ़ता है। कारण और कार्य आँखों से दीख पड़नेवाली दुनियाँ में ही

नज़र आते हैं। बीज से पौधा उगता है। जतन न किया जाए तो पौधा मुरझा जाता है। मेहनत से धन मिलता है। अभ्यास से मूर्ख भी विद्वान् बन जाता है। कमज़ोर कसरत करके बलवान हो सकता है। कौशल से कमज़ोर भी बलवान् को अपने वश में कर लेता है। दुनियाँ में नित्य-प्रति घटनेवाली कारण-कार्य की इन बातों ने आदमी में पुरुषार्थ पैदा किया। उसने उच्च स्वर से कहा—

"कायर मनकर एक आधारा।
दैव-दैव आलसी पुकारा॥"

आलसी और कायर ही अपनी सहायता के लिए ईश्वर को बुलाते हैं। बस, यहीं से आदमी अपने पैरों पर खड़ा होने और अपनी दुर्गति का कारण ढूँढ़ने को तैयार हो गया। 'भगवान की इच्छा'—पर अब उसे भरोसा नहीं रहा। क्योंकि भगवान कारण और कार्य के संबंध से परे रहता आया है। उस पर तर्क नहीं चल सका है। इसी पुरुषार्थ के बल पर विश्वामित्र क्षत्रिय होकर भी ब्रह्मर्षि बन जाते हैं। त्रिशंकु स-देह स्वर्ग जाता है। रावण त्रिभुवन को रुला देता है। वनवासी राम बंदर और भालुओं को जमाकर के समुद्र में पुल बाँध लेते हैं।

इस पौरुष ने नवीन युग में पुरानी इमारत की जड़ हिला दी। भाग्य, भगवान्, धर्म, जाति आदि की भावना क्रमश: शिथिल होने लगी। आदमी अपने सुख-दुख के लिए खुद जिम्मेवार बनने लगा या अपने समान हाथ-पैर-वाले किसी दूसरे आदमी को ही उसका उत्तरदायी समझने लगा। भाग्य तो उसकी ही करनी का फल है। उसने जैसा बोया है, काटेगा। बस, भगवान को आदमी ने पेंशन दे दी।

"उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी:।" इस सिद्धांत ने बहुत पहले मानव-समाज में संघर्ष और होड़ को जन्म दिया। प्रयत्न करने से मैं भी 'वैसा' बन सकता हूँ। आज की दुनियाँ इसी सूत्र पर चल रही है। आए दिन के 'महाभारत' इसी के सबूत हैं।

कहानी मानव-जीवन की झाँकी है। यथार्थवाद के इस संघर्ष का असर उस पर भी पड़ने लगा है। जीवन प्रगतिशील है तो उसकी झाँकी भी प्रगतिशील होगी ही। जीवन विषाद-मय है, तो उसकी कहानी भी विषादांत होगी। धर्म का सूत्र तो हाथ से छूट ही गया है। रह गया है सिर्फ़ कर्म-कोलाहल-वाला पुरुषार्थ। बल, पौरुष, विद्या और कौशल की तरक्की के साथ आदमी की जीवन-यात्रा में संघर्ष भी बढ़ता जाता है। हाँ, यह बात दूसरी है कि मनुष्यता से गिरकर वह जड़-जीवों की श्रेणी में जा बैठा है। विवेकवान मनुष्य भी अगर आँख मूँदकर पशु-जगत की नकल करने लग जाए, तो फिर वह मनुष्य क्यों हुआ था? उसमें विवेक की दृष्टि क्यों उपजी थी? वह तो सृष्टि का राजा है। उसका कर्त्तव्य तो है पशुता पर विजय पाना। उसका मार्ग तो स्वार्थ-त्याग से बनाया गया है। महात्मा बुद्ध, महात्मा ईसा और महात्मा गाँधी इसी 'वाद' की घोषणा करते हैं। अंधकार में झिलमिलाते आलोक की तरह उन महात्माओं का यह 'वाद' भी कुछ व्यक्तियों के हृदय पर प्रभाव डाल रहा है। प्रगतिवाद के इस ज़माने में मानव-आदर्श का यह प्रकाश भी साहित्य में प्रवेश पा रहा है। साहित्य का सरल और विपुल कलेवर कहानी है। उस पर इस 'वाद' का असर क्यों न पड़ेगा? अतः आज के दोनों आदर्श कहानी को आत्म-सात् करने में व्यग्र दीख पड़ते हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि हिटलर, चर्चिल, रूज़वेल्ट और स्टालिन के इस आधुनिक संघर्ष में महात्मा गाँधी को कारागृह में जाना पड़ा है। उसी प्रकार उनका वह पुरातन आदर्श भी अंधकार में जुगनू की चमक की तरह मानव-मन पर स्थिर नहीं हो पाता है।

कहानी और इतिहास—

एक कहानी और इतिहास का अर्थ एक है—उसने कहा था। लेकिन दोनों की बनावट में बड़ा फ़र्क है। कहानी में व्यक्ति प्रधान होता है और इतिहास में जाति राष्ट्र की प्रधानता होती है। इतिहास खड़ा होता है बाहरी घटनाओं के आधार पर और विवेचन करता है वैज्ञानिक सत्य का; कहानी या उपन्यास भाव-जगत् को अपना आधार बनाते हैं और हृदय के अंतर्गत-भाव की सचाई

को प्रकाश में लाना ही उनका उद्देश्य होता है। इतिहास में कल्पना के लिए कम जगह होती है। और कहानी तो कल्पना-प्रधान होती है। कहानी को भाव की भूख होती है और इतिहास घटनाओं का भूखा होता है। ऐतिहासिक उपन्यास और कहानियों में प्रधान-पात्र तो इतिहास के ज़रूर होते हैं। परंतु उनके बारे में लेखक जो कुछ कहना चाहता है, उसमें कल्पना की प्रधानता होती है। इतिहास में घटी घटनाओं के मर्म में जाकर कलाकार उनपर नया प्रकाश डालता है। तब पुरानी बात भी नए रूप में आकर हमें चमत्कृत कर देती है। उनमें घटनाओं के बजाय भाव-जगत् की प्रधानता हो जाती है। इसी से इतिहास कला की श्रेणी में नहीं आता और ऐतिहासिक उपन्यास या कहानियों की आत्मा कला होती है। इतिहास स्वर्ण का ढेला है और उससे निकले आख्यान-साहित्य सोने के नग-जड़े मोहक अलंकार हैं, जिनमें कारीगर की कल्पना और कौशल ही दर्शनीय होता है। सोना गौण बन जाता है।

कहानी और उपन्यास—

कहानी पहले पैदा हुई। उपन्यास बहुत पीछे बना। लेकिन उपन्यास की ऐसी तरक्की हुई, उसकी ऐसी धूम मची कि कहानी—कुछ समय के लिए—गौण बन गई। अब से कुछ पहले उपन्यासों का ही बोल-बाला था। बड़े-बड़े उपन्यासों ने विश्व-साहित्य में अपना एकाधिकार-सा जमा लिया था। उनके सामने काव्य और नाटक भी उपेक्षणीय बन चले थे। परंतु नए युग के संघर्ष के साथ कहानी का ज़माना भी पलटा। जीवन के संघर्ष में अस्त-व्यस्त मानव को बड़े-बड़े उपन्यास पढ़ने का समय और धीरज कहाँ? वह तो ट्राम पर बैठे-बैठे एक छोटी कहानी से—जीवन की संपूर्ण मार्मिकता के साथ—आत्मा की भूख मिटा लेना चाहता है। मनोरंजन के साथ जीवन की एक रहस्यमयी झाँकी—आज की दौड़ा-दौड़ी में पाठक का यही लक्ष्य हो गया है। हज़ार-दो हज़ार पन्नों को देखते ही उसका सिर चकरा जाता है। इसलिए वह छोटी और मार्मिक कहानियों की खोज में उत्कंठित हो उठा है।

उपन्यास और कहानी की जड़ एक ही ज़मीन में है। दोनों की उत्पत्ति एक ही मानव-जीवन से हुई है। लेकिन उनके आकार और प्रकार में अंतर है। उपन्यास को आप नक्षत्र-खचित आसमान कहें तो कहानी को सप्तरंगी इंद्र-धनुषी मान लें। अकस्मात बादलों के एक कोने से रंगों की एक रागिणी उठी और देखते-देखते नयनाभिराम होकर अछोर फैल गई। छोटी होते भी सारे नभोमंडल को माप आई। और फिर देखते-देखते ही, न जाने कहाँ, विलीन हो गई। पर बहुत देर तक आँखों और मन में, एक कसक और एक गूँज के साथ, बसी रही।

उपन्यास जीवन का व्यापक दर्शन है। परंतु कहानी जीवन की एक झाँकी मात्र है। झाँकी थोड़ी देर के लिए होती है। उसमें कुछ वक्रता, कुछ अस्पष्टता, कुछ उचका-उचकी और कुछ प्रयास की व्यग्रता भी होती है। पर उस झाँकी का असर बड़ा ही तीव्र और देर तक रहनेवाला होता है। कचोट, कसक और उत्कंठा के आघात से हृदय दलमलित हो जाता है और बारबार, न चाहने पर भी, मन उधर खिंचता रहता है। कहानी छोटी भी होती है और बड़ी भी। पर उसका उद्देश्य होता है जीवन की एक मार्मिक एवं व्यंजना-पूर्ण झाँकी ही। उसमें इधर-उधर देखते और मौज से कदम रखते चलना नहीं होता है।

घात में बैठा हुआ शिकारी का लक्ष्य सिर्फ़ शिकार होता है। उसके आगे विस्तृत जंगल है, अनुपम हरियाली है, नदी-तालाब या झरने हैं। परंतु वह इन सब से बचता हुआ अपना समस्त ध्यान अपने शिकार पर लगाए रहता है। उसकी आँखें सिर्फ़ शिकार को देखती हैं। उसका सारा शरीर भी वह नहीं देखता, केवल मर्म-स्थान पर नज़र गड़ाए रहता है, जहाँ उसे आघात करना है। कहानी का भी मर्म ऐसा ही है। कहानीकार जीवन की टेढ़ी-मेढ़ी पग-डंडियों पर दबे पाँव, पर शीघ्रता से चलता है और औचक हमारे मर्म पर निशाना छोड़ देता है। हम घायल होकर तड़पते रह जाते हैं। कला की मर्म-व्यंजना की कसौटी आजकल कहानी ही हो रही है।

उपन्यास जीवन का संपूर्ण दर्शन है। उसमें घटनाओं, पात्रों और व्याख्या का बाहुल्य हो सकता है। लेकिन कहानी में यह गुंजाइश नहीं है। कहानीकार मुख्य बात को छिपाए रहता है। उसकी वह बात ही कहानी की जान होती है। और उस तथ्य को कहने के लिए ही वह बारीकी और व्यग्रता से पाठक को भूल-भुलैयां के पथ से ले चलता है। एक झटके के साथ पर्दा उठाकर वह दृश्य दिखा देता है जिसका आलोक, बिजली की तरह चमक कर, हमारे मर्म में घुस जाता है।

संकेत और गूँज कहानी की जीवन-साँसें हैं। 'बुद्धिमानों के लिए इशारा काफ़ी है।' कहानी इस कहावत को चरितार्थ करती है। कहानी का कौशल है 'गागर में सागर' भरकर ज्वार उठा देना। कहानी में अंतर्द्वन्द्व का दर्शन तो होता है, पर मनोविज्ञान के विश्लेषण का प्रयास नहीं होता। चरित्र-चित्रण के क्रमागत उत्थान-पतन का दिग्दर्शन भी कहानी का लक्ष्य नहीं होता। उसमें एक रचे-सँवारे चरित्र की एक झलक मात्र दिखाई जाती है। इसीलिए उसे चित्रण नहीं, क्षणिक दर्शन कहा जाता है जो बड़ा ही प्रभाव-पूर्ण होता है। कुछ और जानने की जिज्ञासा उसमें बनी ही रह जाती है। कल्पना, जिज्ञासा, कुतूहल और उत्कंठा के इसी घूँट को आधुनिक कहानी कहते हैं। एक घूँट— जिसे पीकर भी, तृप्ति का स्वाद लेकर भी, आदमी अतृप्त बना रह जाए! उपन्यास ऐसा नहीं। वह आकंठ पान करनेवाला परिपूर्ण प्याला है।

कहानी और गद्य-काव्य—

गद्य-काव्य में घटनाओं का बिलकुल महत्व नहीं रहता। उसमें हृदय के बिखरे उद्गारों का संग्रह होता है। उन उद्गारों के रचना-विकास में कोई क्रम-बद्धता या सिलसिला नहीं होता। क्रम-बद्धता ही जीवन है। इसी से गद्य-काव्य में जीवन की झाँकी नहीं मिलती। अंधकार से घिरे किसी सघन पेड़ के आसपास उड़नेवाले जुगनू की जमात की तरह गद्य-काव्य में हृदय के कोने से उठे विचार चमकते पाये जाते हैं।

कहानी और शब्द-चित्र—

शब्द-चित्र कहानी के बहुत पास हैं। फिर भी दोनों में कुछ अंतर है। शब्द-चित्र में वर्णन की प्रधानता होती है और उसमें कुछ स्थायित्व भी होता है। कहानी-सी गति उसमें नहीं होती। उसमें कथा का अभाव होता है। शब्द-चित्र में कहानी का कंकाल तो होता है, पर उसमें मांस और चमड़ा नहीं होता। वह चित्र बोलता तो है, पर वाणी से नहीं, आँखों से।

कहानी की बनावट—

काव्य, नाटक, आख्यान—सभी कलाकृतियाँ हैं। कलात्मक रचनाओं के छः अंग माने गए हैं। कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, संभाषण, वातावरण, शैली और उद्देश्य। मानव-शरीर के समान कलाकार की सृष्टि भी अपनी विविधता में संपूर्णता लिये होती है। सभी अंग-प्रत्यंग एक-दूसरे से मिले होते हैं। परस्पर के सहयोग के बिना उनका अलग अस्तित्व नहीं रह सकता है। फिर भी शरीर में अंगों की प्रधानता रहती ही है। आँखें देखती हैं, कान सुनते हैं और नाक सूघती तथा साँस लेती है। किसी एक के अभाव में विधाता की यह श्रेष्ठ कलात्मक रचना—मानव शरीर—अपनी शोभा खो बैठती है। कलाकार भी तो विधाता से होड़ लेता है। यही नहीं, कलाकार तो बूढ़े बाबा—ब्रह्मा—की सृष्टि का भाष्यकार भी है। उसी के इशारे पर चलकर हम प्रकृति के अतर्गत सौंदर्य का मर्म समझते हैं।

कथा-वस्तु—

कथा-वस्तु बरगद के उस छोटे बीज के समान होती है जिसमें विशाल वृक्ष के सभी आवश्यक तत्त्व छिपे रहते हैं। शरीर के भीतर हड्डियों की ठठरी छिपी है और उसी ठठरी पर सारा शरीर आधारित है। आख्यान-साहित्य में कथा-वस्तु भी वही काम करती है। कहानी की कथा-वस्तु और भी छोटी होती है, पर ख़ूब कसी हुई।

चरित्र-चित्रण—

किसी भी कलात्मक रचना के जो पात्र हमारे सामने आते हैं, उन्हें हम भीतर बाहर से अच्छी तरह पहचान जाएँ—इसीको चरित्र-चित्रण कहते हैं। विरंची बाबा के बनाये हुए सभी जड़-चेतन पदार्थों में विभिन्नता होती है। मानव, पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े—सभी की बनावट में अलगाव होता है। बोल-चाल भी अलग होती है। देश-गत, जाति-गत, व्यवसाय-गत और व्यक्ति-गत विभिन्नता के कारण ही आदमी झट पहचान में आ जाता है। कलाकार अपने चित्रण में विधाता की तरह ही जागरूक होता है। उसका हर एक पात्र अपनी निजी विशेषताओं से युक्त होता है और अलग खड़ा पाया जाता है।

पात्र हमारे सामने चलता, बोलता, सोचता और काम करता दिखाई पड़ता है। हम उसका शरीर भी देखते हैं, उसकी आदतें भी जान जाते हैं। उसकी बोली भी पहचानते हैं और उसके हृदय में क्या-क्या हलचलें उठती हैं। वह भी मालूम कर लेते हैं। चरित्र-चित्रण वह आइना है जो X-Ray की तरह भीतर का फोटो भी ले ले। उसकी मूरत पाठक के मन में इस तरह बैठ जाती है कि भुलाये भी नहीं भूलती है। और वह मूर्ति कोई विचित्र जीव नहीं है। हमारे समाज में ऐसों की कमी नहीं है। वह हमारा सुपरिचित ही होता है।

संभाषण—

संभाषण या बातचीत से चित्र में सजीवता आ जाती है—जैसे बोलती प्रतिमाएँ (Talkies)। बातचीत के द्वारा चरित्र-चित्रण में क्षिप्रता और स्वाभाविकता भी आती है। कुतूहल, जिज्ञासा और उत्कंठा कथोपकथन के द्वारा ही तीव्र वेग से बढ़ती चलती है। जो कहानी बातचीत के झटके के द्वारा शुरू होती है, वह एक-एक क़दम में कोसों की मंजिल पल में तय करती चलती है। बातचीत से आदमी के अंतर में प्रवेश करके उसकी सारी विशेषताओं का पता लगाया जा सकता है।

वातावरण—

वातावरण को पृष्ठ-भूमि भी कहते हैं। घटनाएँ ठोकर मार-मारकर जीवन-शकट को आगे बढ़ाती जाती हैं। परंतु घटनाओं के घटने के लिये कोई आधार-भूमि भी तो चाहिए। शून्य में तो घटनायें नहीं घटती हैं। उनके लिए धरती चाहिए। जल में जहाज़ पर या तैरते समय कोई अनोखी घटना हो सकती है। अब आसमान में उड़ते हुए हवाई जहाज़ों पर भी प्रेम-प्रसंग चल सकता है। जल, थल और आकाश की जिन परिस्थितियों के बीच घटनाएं घटती हैं, उनका वर्णन 'वातावरण' कहलाता है। 'उसने कहा था' में फ्रांस की युद्ध-भूमि का 'वातावरण' देखिए :—

"राम राम, यह भी कोई लड़ाई है! दिन-रात खंदकों में बैठे हड्डियाँ अकड़ गईं। लुधियाने से दस गुना जाड़ा और मेह और बरफ़ ऊपर से। पिंडलियों तक कीचड़ में धँसे हुए हैं। ग़नीम कहीं दिखाई नहीं देता;—घंटे, दो घंटे में कान के परदे फाड़नेवाले धमाके के साथ सारी खंदक हिल जाती है और सौ-सौ गज धरती उछल पड़ती है। इस ग़ैबी गोले से बचे तो कोई लड़े। नगरकोट का ज़लज़ला सुना था, यहाँ दिन में पचीस ज़ल-ज़ले होते हैं। जो कहीं खंदक से बाहर साफ़ा या कुहनी निकल गई तो चटाक से गोली लगती है। न मालूम बेईमान मिट्टी में लेटे हुए या घास की पत्तियों में छिपे रहते हैं।"

ऊपर उद्धृत पृष्ठ-भूमि सजीव, चलती और बोलती हुई—बोल-पट की भाँति—हमारी आँखों के सामने घूम जाती है। हम देखते हैं—यूरोप के इस प्रदेश में पंजाब के लुधियाने नगर से भी ज़्यादा जाड़ा पड़ता है। बारिश हो रही है और बर्फ़ गिर रही है। पंजाबी सिपाही कीचड़-भरी खंदकों में सिकुड़े बैठे हैं। शत्रु (जर्मन सेना) कहीं से छिपकर गोली बरसा रहे हैं। बम फट रहे हैं। नगरकोट के भूकंप से भी यहाँ का भूकंप भारी है। ज़रा भी असावधानी हुई कि गोली लगी।

इस तरह का 'वातावरण' बड़ा ही प्रभावोत्पादक होता है। कहानी के विकास में वातावरण का बड़ा ही हाथ होता है। परंतु उसका चित्रण पात्रों के मनोभावों के साथ मिलकर करना चाहिये। वर्णन के लिए वर्णन कहानी में नहीं चल सकता। ऊपर की पृष्ठ भूमि पात्रों के मनोभावों के साथ वर्णित हुई है—अलग नहीं।

शैली—

कहने के ढंग को शैली कहते हैं। शैली ही कला की जान है। जिस तरह सारे शरीर में प्राण संचार है, परंतु एक जगह निकालकर दिखाया नहीं जा सकता; जिस तरह गुलाब के फूल को चीर फाड़कर उसकी ख़ुशबू या ख़ूबसूरती निकाली नहीं जा सकती, उसी प्रकार शैली का स्वरूप अलग नहीं दिखाया जा सकता है। शैली कलाकार की उद्दीप्त प्रतिभा का कौशल है। उसके शब्द-शब्द में वह व्याप्त है। शैली ही अलंकार है, शैली ही रस-परिपाक है और वही वह चीज़ है जो पाठक के ऊपर अपना जादू डाल देती है। शैली कलाकार के स्वतंत्र अस्तित्व और व्यक्तित्व का परिचय देती है। वही उसे सबसे अलग खड़ा करके बता देती है कि यह अमुक की रचना है। जिस तरह जौहरी अपनी दूकान को अनेक कौशल से सजाता और आकर्षक बनाता है, उसी तरह कलाकार भी अपने शब्द-शब्द में कौशल भरकर उसे चमत्कारपूर्ण बना देता है। इस कौशल में भाषा बड़ी सहायक होती है। मुहावरे, लोकोक्तियाँ, कहावतें, लक्षणा, व्यंजना आदि से युक्त भाषा पाठक को मुग्ध कर देती है। उसका दिल फड़क उठता है। और वह लेखक का हिमायती बन जाता है। आख्यान-लेखकों की सफलता की यह कुंजी है। प्रेमचंद की लोक-प्रियता का बहुत कुछ श्रेय उनकी भाषा को ही दिया जाता है।

कहानी को कैसे शुरू करना, किस जगह उसको चरम सीमा पर पहुँचाना और कैसे खतम करना जिससे पाठक के हृदय में एक घूँट और पीने की प्यास बनी रह जाए—ये सब बातें भी शैली के अन्दर ही आती हैं। शैली ही

लेखक के हाथों जादू की लकड़ी है। ऐसे जादूगर लेखक के दो ही चार शब्द पढ़ते-पढ़ते हम उसके वश में हो जाते हैं और जब तक वह चाहता है, हमें सहर्ष नचाता रहता है।

उद्देश्य—

कुछ लोग कला को निरुद्देश्य मानते हैं। वे कहते हैं—कला के लिए कला है, उसका उद्देश्य और क्या हो सकता है? जो कलाकार कोई उद्देश्य लेकर चलता है, वह कला का दुरुपयोग करता है। कला आनंदमयी है—आनंद ही उसका लक्ष्य है। लीलामय भगवान् की इस सृष्टि का उद्देश्य भी तो लीला ही है।

हाँ, कलाकार का उद्देश्य चीनी में मिठास की तरह छिपा रहता है। वह उपदेश तो देना ज़रूर चाहता है, परंतु मुँह खोलकर नहीं। वह एक चित्र उपस्थित करता है। उस चित्र पर दर्शक लट्टू होते हैं और उसके साथ हँसते रोते हैं। फिर वे आप ही आप कारण भी ढूँढ़ने लग जाते हैं अपने रोने-हँसने का। बस, उन्हें कुछ हाथ लग जाता है और उनका हृदय प्रकाश से भर जाता है। अभिधा और लक्षणा को छोड़कर कलाकार व्यंजना में कुछ सुना देता है और वह बड़ी देर तक कानों में गूँजती रह जाता है। कला की सार्थकता इसी व्यंजना में ही होती है।

उपदेशक की बातों से हम भागते हैं। लेकिन जो उपदेशक कला की शरण में पहुँच जाता है, उसकी बात हमें सुननी ही पड़ती है। हमारी यह लाचारी ही कलाकार की सफलता है। टालस्टाय और प्रेमचंद ऐसे ही कलामय उपदेशक थे। टालस्टाय का नाम सुनते ही हम सतर्क हो जाते हैं कि ज़रूर यह कोई उपदेश की बात कहेगा। फिर भी हम उसका साथ नहीं छोड़ सकते हैं। इस विषय में प्रेमचंद कहीं-कहीं ज़्यादा बोलने लग जाते हैं जिससे पाठक में विरक्ति उत्पन्न हो जाती है। जयशंकर 'प्रसाद' का उद्देश्य बहुत ही गूढ़ हो जाता है। उसकी खोज में बहुत ही परेशानी उठानी पड़ती है।

'शीरीं ने बोझ तो उतार लिया, पर दाम नहीं दिया!' इसकी गूँज कितनी गूढ़ है। 'उसने कहा था'—प्रेम की कहानी है। परंतु लहनासिंह का प्रेम कितना गूढ़ है। खूब सोचने पर मालूम होता है कि उसने—'तेरी कुड़माई हो गई?'—वाली उस लड़की के प्रेम के कारण ही निर्ममता के साथ अपना बलिदान कर दिया। अपनी प्रेमिका के पुत्र और पति को निरापद भेजकर जख़्म से भरा प्रेमी लहनासिंह वजीरासिंह की गोद में उस प्रेम की याद में डूबता-उतराता अपने प्राण छोड़ देता है। प्रेम का कैसा उत्कृष्ट चित्रण है यह—चुपचाप अंतकाल तक त्याग और बलिदान के बीच प्रेम-माधुरी का आकंठ पान!

चरम सीमा—

कहानी पढ़ते-पढ़ते हम एक ऐसी जगह पहुँच जाते हैं, जहाँ रसावेग के कारण हमारे हृदय की धड़कन रुक-सी जाती है और हठात् रोम रोम चिल्ला उठता है—'अब क्या होगा?' यही स्थल कहानी की चरम-सीमा या तीव्रतम स्थिति का होता है। लहनासिंह ने सरदार और उसके बेटे को बीमार की गाड़ी में चढ़ा दिया और कहा—सुनिये तो, सूबेदारनी होराँ को चिट्ठी लिखो तो मेरा मत्था टेकना, लिख देना। और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझसे उन्होंने जो कहा था वह मैंने कर दिया।

गाड़ियाँ चल पड़ी थीं। सूबेदार ने चढ़ते-चढ़ते लहना का हाथ पकड़कर कहा—तू ने मेरे और बोधा के प्राण बचाये हैं। लिखना कैसा? साथ ही घर चलेंगे। अपनी सूबेदारनी को तू ही कह देना। उसने क्या कहा था?

"अब आप चढ़ जाओ। मैं ने जो कहा वह लिख देना।"

गाड़ी के जाते ही लहना लेट गया।

"वजीरा, पानी पिला दे और मेरा कमरबंद खोल दे, तर हो रहा है।"

ऊपर का उद्धरण 'तीव्रतम स्थिति' है। यहाँ आते ही हमारा हृदय करुण-रस के आवेग से भर जाता है। हम लहनासिंह के त्याग और 'हो चुप-

चाप कि अंतकाल तक दैव न जाने ' वाले प्रेम को देखकर स्तंभित रह जाते हैं। वह घायल है और उसका प्रेम इतना गौरवास्पद है! लहनासिंह का अब क्या होगा? क्या वह इस खंदक में ही मर जाएगा? क्या वह सूबेदारनी का कृतज्ञ मुख देखकर अपने मुख को प्रेमोज्वल नहीं कर सकेगा? प्रश्नों की यही गूँज चरम सीमा है।

अंत—

चरम सीमा के बाद ही कहानी का नाटकीय अंत हो जाता है। लेकिन कुछ कलाकार वहीं से उसका मध्यभाग शुरू करते हैं। जैसे वजीरासिंह की गोद में जीवन-मरण के झूले पर झूलता लहनासिंह की स्मृति के द्वारा 'उसने कहा था' का मध्य भाग पूरा किया गया है। सूबेदारनी के साथ पुनर्मिलन, उसके सामने की गयी अपनी प्रतिज्ञा, कहानी के शीर्षक 'उसने कहा था' का परिचय, आदि बातें बता दी जाती हैं।

शीर्षक—

कहानी का शीर्षक भी सार्थक होता है। उसमें अंतिम आभास छिपा रहता है। शीर्षक से कहानी का कुछ अस्पष्ट परिचय हो जाना चाहिए। जैसे—कफ़न, विपथगा, उसने कहा था, आदि शीर्षक कहानी का कुछ पता बता देते हैं। लेकिन उससे अगर कहानी का रहस्य खुल जाता हो तो वह शीर्षक कला-पूर्ण नहीं होगा। अस्पष्टता भी बनी रहे और कुछ झलक भी मिले—ऐसे शीर्षक ही सुंदर होते हैं।

श्रेष्ठ कहानी की पहचान—

नीचे कुछ प्रश्न दिये जाते हैं। उनका उत्तर अगर संतोष-जनक होगा, तो कहानी उत्तम मानी जायेगी। प्रश्नावली :—

१. क्या कहानी का शीर्षक आकर्षक और आभासपूर्ण है?

२. ,, आरम्भ से कुतूहल पैदा होता है?

३. क्या परिणाम की प्रतीक्षा पाठकों में निरंतर रहती है

४. ,, कहानी में काफ़ी प्रयत्न (Action) हैं ?

५. ,, प्रभाव मार्मिक और गंभीर है ?

६. ,, पात्रों का चरित्र स्पष्ट और स्वाभाविक है ?

७. ,, कहानी विश्वास करने लायक़ है ?

८. ,, उसमें काफ़ी संघर्ष है ?

९. ,, कहानी का अंत हृदय पर प्रभाव डालता है ?

१०. ,, कहानी की भाषा आसान, मुहावरेदार और व्यंजना-पूर्ण है ?

* * * *

हिन्दी में कहानियों की प्रगति

आदिकाल—

यद्यपि कहानी-साहित्य का निर्माण सब से पहले भारतवर्ष में ही हुआ और यद्यपि भारत ने ही संसार को कहानी कहने का ढंग बताया, तद्पि आधुनिक कहानियों के लिए वह यूरोप का ही ऋणी है। 'गुरु गुड़ और चेला चीनी।' अंगरेज़ों के आकर जमते ही बंगाल में अंगरेज़ी के ज़रिये शिक्षा-दीक्षा की नयी लहर ज़ोरों से चल पड़ी। भावुक बंगाली, अंगरेज़ी पढ़-लिखकर अपनी मातृभाषा का भंडार भरने लग गये। उत्तर भारत में सब से पहले बंगाली ही अंगरेज़ी के मैदान में जोश के साथ कूद पड़े थे। यह कहना अनुचित न होगा कि बंगाली ही हिन्दी-संसार के आधुनिक गुरुदेव हैं। गुरुजी को अपनी भाषा तो बड़ी प्यारी थी। परंतु शिष्यों की मातृभाषा के प्रति उनका उतना उदार भाव नहीं था। यही सबब था कि आधुनिक हिन्दी बहुत दिनों तक उन्नति की दौड़ में पिछड़ी रह गयी थी। क्रमशः उसकी आत्म-चेतना जगी और जीवंत हुई, तब बड़ी उतावली से विकास के पथ पर वह दौड़ पड़ी।

हिन्दी की पहली मौलिक कहानी का श्रेय कुछ लोग इंशा अल्लाह खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' को देते हैं। इंशा अल्लाह खाँ ने उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध (संवत् १८५५-१८६० विक्रमाब्द) में वह कहानी लिखी थी। लेकिन कुछ लोग किशोरी लाल गोस्वामी लिखित 'इंदुमती' को हिन्दी की पहली मौलिक कहानी मानते हैं। यह कहानी प्रयाग की मासिक पत्रिका 'सरस्वती' में संवत् १९५७ वि० में (सन् १९०० ई०) छपी थी। सं. १९६० वि. (सन् १९०३ ई०) में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' भी सरस्वती पत्रिका में प्रकाशित हुई। 'बंगमहिला' के नाम से एक बंगालिन ने 'दुलाईवाली' नामक कहानी हिन्दी में ही लिखी और सरस्वती में संवत् १९६४ वि० में छपवाई। यह 'बंगमहिला' मिरजापुर (यू. पी.) निवासी बंगाली बाबू रामप्रसन्न घोष की पुत्री थीं। सरस्वती पत्रिका में हर मास कहानियाँ छपती थीं। परंतु सात साल (१९५७ से १९६४ वि.) के अर्से में सात कहानी भी हिन्दी की अपनी चीज़ नहीं थी। बंगला से अनुवाद की आँधी उठ खड़ी हुई थी।

बंगला के अनुवाद से कहानी का जो नया स्वाद मिला, वह उसके उद्गम स्थान अंगरेज़ी तक खींच ले गया। सुप्रसिद्ध कहानीकार जैनेंद्र जी कहते हैं—"कुशल व्यापारी की भाँति हिन्दी-लेखक पहले सब-एजेंट बने। फिर सीधे एजेंट बने। और इसके बाद उन्होंने अपनी स्वतंत्र प्रयोगशाला खोल ली। हिन्दी-कहानी में विदेशी नमूना और निर्माण-शैली अवश्य है। किंतु उसमें भारतीय संस्कारों, मनोवृत्तियों और परम्पराओं का भी परिपाक हुआ है। अब वह अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती है।"

मध्यकाल—

इस स्वतंत्र अस्तित्व के सब से बड़े अधिकारी थे कल्पना और भावुकता के सम्राट जयशंकर 'प्रसाद' जी। 'प्रसाद' जी की पहली कहानी 'ग्राम' नाम से काशी की मासिक पत्रिका 'इंदु' में सं० १९६० वि. में निकली।

उसके बाद आकाश-दीप, बिसाती, प्रतिध्वनि, स्वर्ग के खंडहर, सालवती, चित्र-मंदिर आदि प्रसाद की कहानियों से हिन्दी का मस्तक ऊँचा होने लगा।

संवत् १९६८ वि० में हास्य-रस की कहानी रचनेवाले जी.पी. श्रीवास्तव की पहली कहानी 'इंदु' में ही निकली थी। पं० विश्वंभरनाथ जी 'कौशिक' की पहली कहानी 'रक्षा-बंधन' भी उसी समय 'सरस्वती' में छपी। बिहार के सुप्रसिद्ध कहानीकार राजा राधिकारमण सिंह की बहुत ही सुंदर कहानी 'कानों में कँगना' भी उसी समय 'इंदु' में प्रकाशित हुई। आपकी भाषा और भावुकता हिन्दी में अपना सानी नहीं रखती है। आपकी 'बिजली' कहानी भी बेजोड़ है। उसी समय के आसपास पं० ज्वालादत्त शर्मा और चतुरसेन शास्त्री भी 'सरस्वती' में कहानियाँ लिखने लगे। श्री चंद्रधर शर्मा गुलेरी संस्कृत और हिन्दी के प्रकांड विद्वान् और अद्भुत प्रतिभाशाली लेखक थे। सं. १९७२ वि० (सन्. १९१५ ई.) में आपकी अनुपम कहानी 'उसने कहा था' 'सरस्वती' में निकली। इस कहानी में यथार्थवाद और आदर्शवाद का अनूठा सम्मिलन हुआ है। सुरुचि, मर्यादा, भावुकता और सुकुमार कल्पना के साथ कौशल का विचित्र दर्शन यहाँ होता है। घटना बहुत ही साधारण है। लेकिन उसकी बनावट विचित्र निपुणता के साथ हुई है। प्रेम, वीरता और बुद्धि की ऐसी मर्म-मधुर व्यंजना हुई है कि देखते ही बनता है। प्रेम की वेदी पर आत्म-बलिदान का ऐसा उत्कृष्ट चित्रण अन्यत्र शायद ही पाया जाए। कला और आदर्श की दृष्टि से गुलेरी जी की यह कहानी विश्व-साहित्य की श्रेष्ठ कहानियों के समकक्ष गर्वोन्नत हो बैठ सकती है।

हिन्दी के उपन्यास सम्राट प्रेमचंद जी की कहानियाँ संवत् १९७३ (सन् १९१६ ई.) से पत्रिकाओं में छपने लगीं। प्रेमचंद की भाषा सरल और मुहावरेदार थी। उनके पात्र परिचित से लगे। घटनाएँ जीवन के नित्य-प्रति व्यवहारों से उत्पन्न हुई थीं। चित्रण बड़ा ही सुंदर और मार्मिक था। उनकी 'सौत', 'बड़े घर की बेटी,' 'पंच-परमेश्वर' आदि कहानियाँ हिन्दी

संसार में इतनी लोक-प्रिय हुई, उनकी परिचित-भूमि से उठनेवाली मार्मिकता इतनी अनूठी लगी, उनके वस्तु-विन्यास में हृदय को स्पर्श करने की इतनी शक्ति थी, व्यक्ति की कमज़ोरियों की ओर ऐसे गूढ़, व्यंग्य-पूर्ण संकेत थे कि प्रेमचंद के साथ पाठकों का एक मधुर अपनापन स्थापित हो गया। प्रेमचंद की कहानियों के लिए लोग तरसने लगे। उनकी कहानियाँ पढ़कर पाठक अकसर अपना हृदय टटोलने लग गया। क्या उसीकी कथा तो नहीं कही जा रही है? आख्यान के आकाश में प्रेमचंद सचमुच चंद्रमा बनकर चमकने आ गये। उनको अपने देश से उत्कट प्रेम था। देश की ग़रीब और युगों से कुचली ग्रामीण जनता के साथ उनकी सच्ची सहानुभूति थी। देश की पराधीनता उनके दिल को काटे खाती थी। सामाजिक कुरीतियों के प्रति वह खड्ग-हस्त थे। भाषा पर उनका बेजोड़ अधिकार था। मनोविज्ञान के वह पंडित थे। पात्र उनके सजीव थे। उनमें जाति-गत, व्यक्ति-गत और समाज-गत विशेषताओं का बारीक प्रदर्शन था। मनोरंजन के साथ उनके व्यंग्य हृदय पर ऐसी चोटें चलाते थे जिससे आदमी मन-ही-मन सावधान हो जाता था। अपनी इन विशेषताओं के कारण ही प्रेमचंद हिन्दी के आख्यान-साहित्य के सम्राट मान लिये गये।

प्रभावोत्पादक घटनाएँ, उनकी मार्मिक व्याख्या और आदर्श-चरित्र का उत्थान—प्रेमचंद जी ये तीन विशेषताएँ लेकर चले थे। अधर्म की जीत के वह पक्षपाती नहीं थे। कभी-कभी उनके आदर्श का आग्रह कहानी की कला को कुंठित भी कर देता था।

पांडेय बेचन शर्मा, 'उग्र' ने एक नया मार्ग पकड़ा। समाज के भीतर गुप्त रूप से 'कोढ़ में खाज' की तरह बढ़नेवाली बुराइयों की ओर उनकी मतवाली दृष्टि गयी। उग्रजी की भाषा चटकीलेपन में बेजोड़ है। उनका वर्णन ऐसा लुभानेवाला है कि जान-बूझकर भी पाठक के पैर डगमगाने लग जाते हैं—बुराइयों के प्रति नफ़रत न होकर अकसर आकर्षण ही पैदा हो जाता है। 'चिनगारी' में उग्रजी की उत्कृष्ट कहानियों का संग्रह है।

चंडी प्रसाद 'हृदयेश' की कहानियों में काव्य का-सा आनंद आता है। उनकी शैली अलंकृत थी। भगवती प्रसाद वाजपेयी सादे ढंग से शुरू करते हैं और बातचीत की तीव्रता के बीच तेज़ी से चलकर किसी भाव-जगत् में घुस जाते हैं। उनकी 'निंदिया लागी' बड़ी ही प्यारी कहानी है।

जयशंकर प्रसाद और राय कृष्णदास की कहानियों में गूढ़ व्यंजना की अधिकता होती है। घटना टेढ़ी-मेढ़ी, बातचीत गूढ़, और कल्पना बड़ी ही रमणीय। बार-बार पढ़ने पर भी कुछ जानना बाकी रह जाता है। प्रेमचंद की सरलता, परिचितता और व्याख्या—समझा-बुझाकर कहने के ढंग का इनमें दर्शन नहीं होता। इनकी अस्पष्टता और गूढ़ व्यंजना ही इनका आकर्षण बन गयी हैं। राय कृष्णदास की सफलता गद्य-काव्य में है।

नवीन काल—

नये ढँग से कहने में जैनेन्द्रकुमार की कहानियाँ अपना विशेष स्थान रखती हैं। घटनाएँ साधारण पर चुटीली, बीच बीच में मार्मिक व्याख्या, पात्र परिचित, पर दल-दल में डूबा हुआ, भाषा सीधी, पर एक विचित्र वक्रता लिए हुई, कुछ गूढ़ बात बताने का आग्रह-पूर्ण प्रयत्न, प्रतिभा पर दार्शनिकता का दबाव—जैनेन्द्र जी की ख़ासियत है।

एक समय प्रसाद जी के पट्टशिष्य विनोदशंकर व्यास की लघु कथाओं की धूम थी। उनमें चित्रण की अपेक्षा भावनाओं का बाहुल्य था। उनके चित्र बोलते हैं कम, इशारा ज़्यादा करते हैं। जुगनू की चमक को अपनानेवाली ये कहानियाँ पाठक के मन पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ती हैं।

भगवतीचरण वर्मा की कहानियाँ भी बड़ी चुटीली होती हैं।

विदेशी ढंग की वक्रता और मीठी लाक्षणिकता को अपनाकर चलनेवाले होनहार कलाकारों में 'अज्ञेय' जी का स्थान श्रेष्ठ है। चंद्रगुप्त विद्यालंकार की कहानियाँ अपने गंभीर वातावरण के लिए मशहूर हैं। उनकी लेखनी से स्याही नहीं ढलती, शीशा गलता है। 'डाकू' पढ़िये।

कहानी के आसमान में प्रेमचंद अगर चंद्रमा थे तो जयशंकर प्रसाद सूर्य की तरह भासमान हुए। प्रेमचंद सरल थे, 'प्रसाद' गूढ़। प्रेमचंद कहते थे ज़्यादा, प्रसाद में संकेत रहता था। प्रेमचंद के चित्र जाने हुए और बहुत ही साफ़ होते थे। 'प्रसाद' अगम्य सागर, अनंत आकाश और अपरिचित खंडहरों में ले जाकर पाठकों के साथ आँख-मिचौनी खेलते थे। बड़ी देर तक हम रास्ता ही ढूँढ़ते रह जाते हैं। उनके चित्र भी अकसर भूत-कालीन होते हैं।

प्रेमचंद सुधारवादी थे। उनकी कहानियों में समाज या व्यक्ति का सुधार ही मुख्य बात है। उन्होंने तीन सौ से अधिक कहानियाँ लिखी हैं। उनमें समाज के सामने आदर्श-चरित्र उपस्थित करना ही उनका ध्येय रहा है। उनकी पंथा पर चलनेवालों में पं. विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक', सुदर्शन जी, सियारामशरण गुप्त, ज्वालादत्त शर्मा, चतुरसेन शास्त्री आदि प्रमुख कहानीकार हैं।

चतुरसेन शास्त्री की 'दुखवा मैं कासों कहूँ!' कहानी बड़ी ही रस-पूर्ण हुई है। आपकी कहानियों में आदर्शवाद और यथार्थवाद की अलग-अलग धारा बही है। एक ओर ऐतिहासिक वातावरण में रखकर वीर चरित्रों का आदर्श-चित्रण आप युवक-समाज में पेश करते हैं। दूसरी ओर आदमी के हृदय की प्यास, उसकी व्याकुलता और निराशाओं से भरा हुआ बड़ा ही प्रभावशाली चित्रण आपने उपस्थित किया है? शास्त्रीजी का कथोपकथन भी मार्के का होता है। कर्त्तव्य, प्रेम और निष्ठा का द्वन्द्व भी आपकी कहानियों में अद्भुत पाया जाया है। शास्त्रीजी सिद्ध-हस्त लेखकों में हैं।

सुदर्शन जी प्रेमचंद की पंथा के सफल पथिक हैं। आपने प्रेमचंद की भाषा का भी सफल अनुकरण किया है। प्रेमचंद के बाद कहानीकारों में सुदर्शन जी का ही नाम अग्रगण्य माना जाता है। 'बोलपट' के कहानी-लेखकों में भी आपका सम्मानित स्थान है। सियारामशरण गुप्त अपनी 'मानुषी' में

बेजोड़ दीख पड़े हैं। आप भारत की आध्यात्मिकता और उनके आदर्श के पक्षपाती हैं। आपकी दृष्टि भी ग्रामीण सभ्यता की ओर रहती है। ग़रीबी को आप अभिशाप नहीं मानते हैं। समाज में आदर्श चरित्र उपस्थित करना ही आपकी कहानियों का ध्येय होता है। आपकी भाषा में हिन्दी का सहज माधुर्य ओत-प्रोत होता है।

कहानी-साहित्य पर प्रेमचंद ने जैसा प्रभाव डाला, वैसा कोई नहीं डाल सका। क़रीब बीस साल तक आख्यान के आकाश में प्रेमचन्द का ही एक छत्र राज्य रहा। वह पूर्णचंद्र की तरह चमकते रहे और उनकी दिगंत-व्यापी धवल ज्योत्स्ना की वर्षा में अन्य लेखक नक्षत्र ही बने रह गये। यद्यपि जयशंकर प्रसाद की कहानियाँ कवित्व, नाटकत्व और अर्थ-गांभीर्य के कारण हिंदी में अनुपम हैं, फिर भी वे युग के समीप नहीं जान पड़ती हैं। यथार्थवाद की व्यंजना होते हुए भी वे एक अस्पष्ट जगत् की झलक दिखाती हैं जहाँ का जीवन है तो लुभावना, पर जिसके साथ हमारे जीवन का काफ़ी सामंजस्य नहीं बैठता है। वह दुनिया लेखक के अपने व्यक्तित्व के भार से कुछ दबी हुई जान पड़ती है जहाँ के जीव हमारी तरह साँस नहीं लेते हैं। उनकी वेदना, कसक, तड़प और प्रेम या युद्ध करने का ढंग सब निराले हैं। हम चमत्कृत होते हैं, उनपर मुग्ध होते हैं, उन्हें अपनाना चाहते हैं, पर पकड़ नहीं पाते हैं। अपनी इसी अनूठी विलक्षणता के कारण 'प्रसाद' जी की पंथा पर सफलता के साथ कोई चल न सका। प्रसाद जी में यथार्थता की व्यंजना नवीन युग का मार्ग खोलती है, पर अपनी आदर्श-प्रियता तथा गंभीरता के कारण आगे बढ़कर नेतृत्व नहीं कर सकती है। इसलिए यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि प्रेमचंद और प्रसाद का आदर्शवादी युग बीत गया और उनके साथ उनकी पंथा पर भी पर्दा पड़ने लग गया है।

नवीन युग की कहानियाँ अपने युग की समस्त जटिलताओं, विषमताओं, संघर्ष तथा अस्त-व्यस्तता को अपनाकर चलना चाहती हैं। वह छोटी होंगी, पर अपनी लघुता में ही जीवन की समस्याओं की विस्तृत व्यंजना करने का

मंसूबा बाँधेगी। आज का मानव जीवन सब ओर से जकड़ा हुआ है। उनकी समाज-नीति, राष्ट्र-नीति अर्थ-नीति और धर्म-नीति की बेड़ियाँ स्वच्छंदता-प्रिय मनुष्य को विद्रोही बनाये जा रही हैं। वह सभी तरह की प्राचीनताओं से चिढ़ उठा है। यही नहीं, बड़ी बेरहमी से वह उस पर धावा बोलने की तैयारी कर रहा है। आज की कहानियों में इन सभी विद्रोहों की व्यंजना होनी चाहिए। उनका कौशल भी अद्भुत हो, पर अविश्वसनीय नहीं। उनकी भाषा सरल हो, पर हो व्यंजना-पूर्ण जो सीधे हृदय पर जाकर चोट करे। अलंकार से छुटकारा मिल जाए। उसमें जीवन झलके। आदर्श, भाग्य या भगवान का उसमें कोई हाथ न हो। मानव का पौरुष ही जगत् की विषमताओं का कारण है। वह पौरुष ही अब कोटि-कोटि कंठों से हुंकार करके क्रांति का जय घोष-करने लग जाए।

युग की इन आकांक्षाओं को लेकर प्रेमचंद-सा कोई महान प्रतिभाशाली लेखक अभी हिन्दी में पैदा नहीं हुआ है जो अपने युग का निर्माता या नेता मान लिया जाए। एक समय के आंदोलनकारी कहानी-लेखक उग्र, राजेश्वर-प्रसाद सिंह, ऋषभचरण जैन, इलाचंद्र जोशी, जैनेन्द्रकुमार, कृष्णानंद गुप्त, भगवतीचरण वर्मा, चंद्रगुप्त विद्यालंकार, शिवपूजन सहाय, राधा कृष्ण, यशपाल, अज्ञेय, वाचस्पति पाठक, राजा राधिकारमण सिंह आदि बहुत-से लेखक प्रेमचंद की पंथा से कुछ अलग होकर चले थे। उनके आदर्श और कहने के ढंग में प्रेमचंद का प्रभाव नहीं पड़ा था। इनमें 'उग्र' की कहानियों में कुछ ऐसी मस्ती और चौंका देनेवाली स्फूर्ति थी कि पाठक उनकी मतवाली भाषा, नूतन उपमाओं, शैली की सरसता और एक अल्हड़ बाँकापन पर एकदम रीझ-सा गया था। उनके कुछ चित्र तो भुलाये भी नहीं भूलते।

विद्रोही युग की आज की व्यंजना में यह निर्भयता के साथ कहा जाएगा कि पुराने लेखकों का ज़माना बीत गया। नवीनतम कहानी बहुत तेज़ी के साथ आगे बढ़ी चली आ रही है।

यशपाल, अज्ञेय, पहाड़ी, राधा कृष्ण और जैनेन्द्रकुमार में युग के पीछे कमर कसकर दौड़ने का हौसला पाया जाता है। 'अज्ञेय' से आशा भी की जा सकती है बहुत कुछ। उनमें प्रतिभा, शक्ति और कला का सुंदर संमिश्रण है। परंतु निश्चित पंथ का पता नहीं पाया जाता है। उनकी 'विपथगा' कहानी साहित्य में एक आलोक-स्तंभ-सी है।

जैनेन्द्रकुमार की शैली, भाषा, कौशल और यथार्थवादी व्यंजना इस युग की आकांक्षाओं के बहुत पास होकर चलती है। उनका चित्रण बड़ा ही प्रभावशाली होता है। लेकिन गाँधीवादी दर्शन के भार से उनकी कला स्वच्छंद विचरण नहीं कर सकती है। वह कलियुग से चलकर सत्य युग के सपने देखते हैं। उनके चरित्र और चित्र इसी धरती के हैं, इसी युग के वातावरण में वे साँस लेते हैं, साधारण हाड़-मांस के ही वे जीव हैं। परंतु अपने अंतर में वे धर्मराज युधिष्ठिर की आत्मा छिपाये चलते हैं जिससे हमारे अंतर का विश्वास वे नहीं अपना पाते हैं। फिर भी प्रेमचंद के बाद हमारे कथा-साहित्य के अधिकारी आज जैनेन्द्र जी ही माने जाते हैं। उनकी देन अपूर्व है।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क', वनमाली, विष्णु, पहाड़ी, राधाकृष्ण, कमल जोशी, व्रजमोहन गुप्त, लक्ष्मीचंद्र, अंचल, चंद्रकिरण सौनरिक्सा, उषादेवी मित्रा आदि कहानीकार नये युग के आसमान में चमकने आ गये हैं। यद्यपि राकेंदु का आगमन अभी तक नहीं हुआ है, तथापि उनके स्वागत की तैयारी हो रही है। नवीन कहानियों का भविष्य उज्ज्वल दीख पड़ता है।

सामाजिक कहानियाँ

प्रेमचन्द

कौशिक

उग्र

श्री प्रेमचन्द

जन्म—१८९० ई०
रचना- } १९०१ उर्दू
काल } १९१५ हिन्दी
मृत्यु—१९३६ अक्तूबर

जन्म स्थान—मढ़वा गाँव
निवास—बनारस
पेशा—लिखना

आपका नाम धनपतराय था। उर्दू में नव्वाबराय और हिन्दी में प्रेमचन्द के नाम से लिखते थे। बड़े ही ग़रीब कायस्थ परिवार में पैदा हुए। पिता डाकखाने में क्लर्क थे। आप छः साल के थे तभी माता मर गयीं। फिर १४ साल की उम्र में पिता भी चल बसे। बहुत कष्ट उठाकर आप ने १० वें दर्जे तक शिक्षा पायी और १८) मासिक पर मदरसे में शिक्षक का काम करते हुए ही ख़ानगी तौर पर आपने बी. ए. पास कर लिया और तरक्की करते करते स्कूलों के इंस्पेक्टर भी बने। १९१९ ई० के असहयोग आन्दोलन में एक मात्र जीविका का आधार वह नौकरी भी छोड़ दी। तब से अन्त तक क़लम ही आपकी ज़िन्दगी का एक मात्र सहारा रह गया। बीच में थोड़े साल 'माधुरी' के संपादक रहे और अन्त में थोड़े दिन एक सिनेमा कंपनी में नौकरी की। मगर वहाँ का वातावरण और आदर्श आपको न जँचा और फिर आप ग़रीबी की गोद में चले आये।

४६ साल की थोड़ी उम्र में आप उदर रोग से स्वर्ग सिधारे।

अब आपके परिवार में आपकी विधवा—प्रसिद्ध कहानी लेखिका—श्रीमती शिवरानी देवी, दो पुत्र—श्रीपतराय व अमृतराय तथा एक पुत्री हैं। 'प्रेमचन्द गृह' नाम से आपके पुत्र प्रकाशन का कार्य बड़ी उत्तमता से कर रहे हैं। 'सरस्वती प्रेस' तथा 'हंस' [मासिक पत्रिका) आपका शुरू किया हुआ था जो अब भी सुचारु रूप से आपके सुपुत्र चला रहे हैं। आपने 'जागरण' नामक पत्र भी चलाया था—जो उस समय उच्च कोटि का पत्र माना जाता था। आपने अपना पेट काटकर 'हंस' और 'जागरण' को पाला था।

श्री प्रेमचन्द सामाजिक तथा राजनीतिक विषयों में बड़े ही उदार—बल्कि क्रांतिकारी—विचार रखते थे। जाति-पाँति, छुआछूत, अन्ध-रूढ़ि तथा धार्मिक संकीर्णता के आप कट्टर दुश्मन थे। हिन्दुस्तान की आज़ादी के पक्के पक्षपाती और गाँधीवाद के बड़े विश्वासी प्रचारक थे। इस विषय में यह कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी कि भारतीय साहित्य में गाँधीवाद (दरिद्र-नारायण की पूजा) का ऐसा सुन्दर क्रम-विकास तथा समर्थन दूसरा कोई साहित्यकार नहीं कर सका है। हिन्दू-मुस्लिम एकता का ऐसा ज़बर्दस्त लेखक तो शायद ही कभी पैदा हो। आप ग़रीब थे और ग़रीबों के भारी वकील थे। जीवन के अंत में तो आप

मार्क्सवाद से प्रभावित हुए थे और पक्के समाजवादी बन गये थे। आपकी कुछ कहानियाँ तथा 'गोदान' उपन्यास इसके उदाहरण हैं।

प्रेमचन्द कलाकार के रूप में भारतीय-साहित्य में सदा अमर रहेंगे। आपसे एक नया युग ही प्रारंभ हुआ है। कला के बारे में प्रेमचन्द जी के विचार टाल्स्टाय से मिलते-जुलते थे। आपने बराबर कला को इन्सानियत की तरक़्क़ी का सामान बनाया। महज़ तफ़रीह या मनोरंजन के वास्ते आपने कला की शरण कभी नहीं ली। आप देहाती किसानों, मज़दूरों तथा पीड़ितों के चित्रकार थे। दलित-दरिद्र में उच्च मानवता—जो राख के नीचे चिनगारी की तरह छिपी रहती है—देखना चाहें तो प्रेमचन्द की रचना उसका ख़ज़ाना है। उच्च वर्ग के प्रति आपकी सहानुभूति नहीं थी; इसलिए चित्रण भी उतना सुन्दर नहीं हुआ है।

प्रेमचन्द जी आम जनता के कलाकार थे, फिर आपकी भाषा आभिजात्य वर्ग की क्योंकर होती? आपकी तमाम कहानियों और उपन्यासों में पात्रोचित भाषा है; और आपके पात्र देहाती हैं; स्वभावतः उनकी बोली उन्हीं की—आम जनता की—है। उस पर हिन्दू या मुसलमान, संस्कृत या फ़ारसी की मुहर नहीं लगी है। आप शुद्ध राष्ट्रभाषा या क़ौमी ज़बान के लेखक हैं। आपने गद्य का ज़बर्दस्त सुधार किया। ढीलेपन के भार से लदी हुई भाषा (गद्य)

को मुहावरों से माँजकर फुर्तीली और लचीली बना डाला। उर्दू-फ़ारसी के तो आप उस्ताद थे ही। उसके अलावा अंग्रेज़ी गद्य का ज़ोर, संक्षिप्तता, लचीलापन और सफ़ाई भी आप ले आये। विदेशी प्रयोगों और मुहावरों को तो आप ने ऐसा पचाया है कि बहुत ध्यान देने पर ही पता चलता है। सीधे-सादे पुर-असर ढंग से कहना प्रेमचन्द जी की शैली की ख़ासियत है। आपका व्यंग ऐसा चुभता हुआ होता है कि पाठक कलेजा थामे ही रहता है और तीर आर-पार।

आप ख़ुशदिल और उदार व्यक्ति थे। धोखा खा जाते थे मगर धोखा देना न आता था। ओठों के अंदर मुस्कुराहट हर हालत में झलकती रहती थी। चुहल करते और ज़ोरों से ठाकर हँस पड़ते। रहन-सहन सादा। लिखने का रोग था; जो मरने के साथ ही छूटा।

'कफ़न' कहानी आपकी शैली और स्वभाव, कला और कल्पना, भाषा और भाव, दुख और दर्द का अच्छा प्रतिनिधित्व करती है। कहानी के अन्दर एक भयंकर व्यंग छिपा है जो सारी कहानी ख़तम करने पर ही चुभना शुरू करता है। घीसू जैसे ग़रीब मज़दूर का, जीवन के प्रति जो दृष्टिकोण बन गया है वह हृदय हिलानेवाला है। विचार करने पर मालूम पड़ता है कि समाज

इसके लिए कहाँ तक जिम्मेवार है। इसके लिए लेखक कहता है— "जिस समाज में रात दिन मेहनत करनेवालों की हालत, उनकी हालत से कुछ बहुत अच्छी न थी; और किसानों के मुक़ाबले में वे लोग, जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना जानते थे—कहीं ज़्यादा सम्पन्न थे; वहाँ इस तरह की मनोवृत्ति का हो जाना कोई अचरज की बात न थी।" घीसू इतना लोभी और आलसी, हृदय-हीन और कर्तव्य-विमुख और अन्त में पशु से भी गया-गुज़रा क्यों बन जाता है? इन्हीं प्रश्नों का उत्तर इस कहानी में बड़े ही पुर-असर ढंग से दिया गया है।

आपकी कहानियों और उपन्यासों का अनुवाद भारतीय भाषाओं के अलावा रूसी, जापानी उथा अंग्रेज़ी भाषाओं में भी हुआ है। दक्षिण के कथा-साहित्य पर भी प्रेमचन्द जी ने बड़ा प्रभाव डाला है। आपके 'गोदान' का अंग्रेज़ी अनुवाद हो चुका है। शीघ्र ही प्रकाशित होने जा रहा है।

आपकी रचनाएँ :—

उपन्यास :—प्रेमा, सेवासदन, वरदान, प्रेमाश्रम, निर्मला, प्रतिज्ञा, रंगभूमि, ग़बन, कर्मभूमि, काया-कल्प, गोदान।

कहानी संग्रह —सप्त सरोज, नवनिधि, प्रेम-पूर्णिमा, प्रेम-पंचमी, प्रेम-द्वादशी, प्रेम-प्रतिमा, पाँच फूल, प्रेरणा,

समर-यात्रा, सप्त सुमन, प्रेम-तीर्थ, प्रेम-प्रसून, प्रेम-चतुर्थी, प्रेम-पंचमी, मानसरोवर—४ भाग तथा कफ़न।

नाटक—संग्राम, कर्बला, प्रेम की वेदी।

निबन्ध—प्रेमचन्द के कुछ विचार।

जीवनी—रामचर्चा

अनुवाद—आज़ाद कथा—२ भाग, अहंकार, सुखदा, महात्मा शेख-सादी; टाल्स्टाय की कहानियाँ, अवतार, न्याय, हड़ताल, चाँदी की डिबिया (गाल्सवर्दी के नाटक)।

हिन्दी और तमिल में 'सेवासदन' का फ़िल्म बन चुका है। 'रंगभूमि' पर हिन्दुस्तानी एकाडेमी ने ५ सौ रुपये का पुरस्कार दिया है।

कफ़न

झोंपड़े के द्वार पर बाप और बेटा दोनों एक बुझे हुए अलाव के सामने चुपचाप बैठे हुए थे और अन्दर बेटे की जवान बीबी बुधिया प्रसव-वेदना से पछाड़ खा रही थी। रह-रहकर उसके मुँह से ऐसी दिल हिला देनेवाली आवाज़ निकलती थी कि दोनों कलेजा थाम लेते थे। जाड़ों की रात थी, प्रकृति सन्नाटे में डूबी हुई, सारा गाँव अन्धकार में लय हो गया था।

घीसू ने कहा—मालूम होता है, बचेगी नहीं। सारा दिन दौड़ते हो गया, जा, देख तो आ।

माधव चिढ़कर बोला—मरना ही है तो जल्दी मर क्यों नहीं जाती? देखकर क्या करूँ?

'तू बड़ा बेदर्द है बे! साल भर जिसके साथ सुख-चैन से रहा, उसी के साथ इतनी बेवफ़ाई!'

'तो मुझसे तो उसका तड़पना और हाथ-पाँव पटकना नहीं देखा जाता।'

चमारों का कुनबा था और सारे गाँव में बदनाम। घीसू एक दिन काम करता तो तीन दिन आराम। माधव इतना कामचोर था कि आध घण्टे काम करता तो घण्टे भर चिलम पीता। इसलिए उन्हें कहीं मज़दूरी नहीं मिलती थी। घर में मुट्ठी भर भी अनाज मौजूद हो, तो उनके लिए काम करने की क़सम थी। जब दो-चार फ़ाक़े हो जाते तो घीसू पेड़ पर चढ़कर लकड़ियाँ तोड़ लाता और माधव बाज़ार से बेच लाता। और जब तक वह पैसे रहते, दोनों इधर-उधर मारे-मारे फिरते। जब फ़ाक़े की नौबत आ जाती, तो फिर लकड़ियाँ तोड़ते या मज़दूरी तलाश करते। गाँव में काम की कमी न थी। किसानों का गाँव था, मेहनती आदमी के लिए पचास काम थे। मगर इन दोनों को लोग उसी वक़्त बुलाते, जब दो आदमियों से एक का काम पाकर भी सन्तोष कर लेने के सिवा और कोई चारा न होता। अगर दोनों साधु होते, तो उन्हें सन्तोष और धैर्य के लिए संयम और नियम की बिलकुल ज़रूरत न होती। यह तो इनकी प्रकृति थी। विचित्र जीवन था इनका! घर में मिट्टी के दो-चार बर्तनों के सिवा कोई सम्पत्ति नहीं। फटे चीथड़ों से अपनी नग्नता को ढाँके हुए जिये जाते थे। संसार की चिन्ताओं से मुक्त! क़र्ज़ से लदे हुए। गालियाँ भी खाते, मार भी खाते, मगर कोई भी ग़म नहीं। दीन इतने की वसूली की बिलकुल आशा न रहने पर भी लोग इन्हें कुछ न कुछ क़र्ज़ दे देते थे। मटर, आलू की फ़सल में दूसरों के खेतों से मटर या आलू उखाड़ लाते और भून-भान कर खा लेते या दस-पाँच ऊख उखाड़ लाते और रात को चूसते। घीसू ने इसी आकाशवृत्ति से साठ साल की उम्र काट दी और माधव भी सपूत बेटे की तरह बाप ही के पदचिन्हों पर चल रहा था, बल्कि उसका नाम और भी उजागर कर रहा था। इस वक़्त भी दोनों अलाव के सामने बैठकर आलू

भून रहे थे, जो कि किसी के खेत से खोद लाये थे। घीसू की स्त्री का तो बहुत दिन हुए देहान्त हो गया था। माधव का ब्याह पिछले साल हुआ था। जब से यह औरत आयी थी उसने इस ख़ानदान में व्यवस्था की नींव डाली थी। पिसाई करके या घास छीलकर वह सेर भर आटे का इन्तज़ाम कर लेती थी और इन दोनों बे-ग़ैरतों का दोज़ख भरती रहती थी। जब से वह आयी, यह दोनों और भी आलसी और आरामतलब हो गये थे। बल्कि कुछ अकड़ने भी लगे थे। कोई कार्य करने को बुलाता, तो निर्व्याज भाव से दुगुनी मज़दूरी माँगते। वही औरत आज प्रसव-वेदना से मर रही थी और यह दोनों शायद इसी इन्तज़ार में थे कि वह मर जाय, तो आराम से सोयें।

घीसू ने आलू निकालकर छीलते हुए कहा—जाकर देख तो, क्या दशा है उसकी? चुड़ैल का फ़िसाद होगा, और क्या? यहाँ तो ओझा भी एक रुपया माँगता है! माधव को भय था कि वह कोठरी में गया, तो घीसू आलुओं का बड़ा भाग साफ़ कर देगा। बोला—मुझे वहाँ जाते डर लगता है।

'डर किस बात का है, मैं तो यहाँ हूँ ही!'

'तो तुम्हीं जाकर देखो न!'

'मेरी औरत जब मरी थी, तो मैं तीन दिन तक उसके पास से हिला तक नहीं। और फिर मुझसे लजायेगी कि नहीं? जिसका कभी मुँह नहीं देखा, आज उसका उघड़ा हुआ बदन देखूँ! उसे तन की सुध भी तो न होगी? मुझे देख लेगी तो खुलकर हाथ-पाँव भी न पटक सकेगी?'

'मैं सोचता हूँ, कोई बाल-बच्चा हो गया तो क्या होगा? सोंठ, गुड़, तेल, कुछ भी तो नहीं है घर में!'

'सब कुछ आ जायगा। भगवान् दें तो! जो लोग अभी एक पैसा नहीं दे रहे हैं, वे ही कल बुलाकर रुपये देंगे। मेरे नौ लड़के हुए, घर में

कभी कुछ न था; मगर भगवान् ने किसी न किसी तरह बेड़ा पार ही लगाया।'

जिस समाज में रात-दिन मेहनत करनेवालों की हालत उनकी हालत से कुछ बहुत अच्छी न थी, और किसानों के मुक़ाबले में वे लोग, जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज़्यादा सम्पन्न थे, वहाँ इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी। वहाँ तो कहेंगे, घीसू किसानों से कहीं ज़्यादा विचारवान् था और किसानों के विचारशून्य समूह में शामिल होने के बदले बैठकबाजों की कुत्सित मण्डली में जा मिला था। हाँ, उसमें यह शक्ति न थी कि बैठकबाजों के नियम और नीति का पालन करता। इसलिए जहाँ उसकी मण्डली के और लोग गाँव के सरग़ना और मुखिया बने हुए थे, उसपर सारा गाँव उंगली उठाता था। फिर भी उसे यह तसकीन तो थी ही कि अगर वह फटेहाल है तो कम से कम उसे किसानों की-सी जाँ-तोड़ मेहनत तो नहीं करनी पड़ती। और उसकी सरलता और निरीहता से दूसरे लोग बेजा फ़ायदा तो नहीं उठाते!

दोनों आलू निकाल-निकाल कर जलते-जलते खाने लगे। कल से कुछ नहीं खाया था। इतना सब्र न था कि उन्हें ठण्डा हो जाने दें। कई बार दोनों की ज़बानें जल गयीं। छिल जाने पर आलू का बाहरी हिस्सा तो बहुत ज़्यादा गर्म न मालूम होता; लेकिन दाँतों के तले पड़ते ही अन्दर का हिस्सा ज़बान और हलक़ और तालू को जला देता था और उस अंगारे को मुँह में रहने से ज़्यादा ख़ैरियत इसी में थी कि वह अन्दर पहुँच जाय। वहाँ उसे ठण्डा करने के लिए काफ़ी सामान थे। इसलिए दोनों जल्द-जल्द निगल जाते। हालांकि इस कोशिश में उनकी आँखों से आँसू निकल आते।

घीसू को उस वक़्त ठाकुर की बारात याद आयी, जिसमें बीस साल पहले वह गया था। उस दावत में उसे जो तृप्ति मिली थी, वह उसके जीवन में एक याद रखने लायक़ बात थी और आज भी उसकी याद ताज़ा थी। बोला—

वह भोज नहीं भूलता। तब से फिर उस तरह का खाना और भरपेट, नहीं मिला। लड़कीवालों ने सब को भरपेट पूड़ियाँ खिलाई थीं, सबको! छोटे-बड़े सब ने पूड़ियाँ खायीं और असली घी की! चटनी, रायता, तीन तरह के सूखे साग, एक रसेदार तरकारी, दही, चटनी, मिठाई, अब क्या बताऊँ कि उस भोज में क्या स्वाद मिला। कोई रोकटोक नहीं थी। जो चीज़ चाहो, माँगो और जितना चाहो खाओ। लोगों ने ऐसा खाया, ऐसा खाया, किसी से पानी न पिया गया। मगर परोसनेवाले हैं कि पत्तल में गर्म-गर्म गोल-गोल सुवासित कचौड़ियाँ डाले देते हैं। मना करते हैं कि नहीं चाहिए, पत्तल पर हाथ से रोके हुए हैं, मगर वह हैं कि दिये जाते हैं। और जब सब ने मुँह धो लिया, तो पान-इलायची भी मिली। मगर मुझे पान लेने को कहाँ सुध थी? खड़ा न हुआ जाता था। चटपट जाकर अपने कम्बल पर लेट गया। ऐसा दिल-दरियाव था वह ठाकुर!

माधव ने इन पदार्थों का मन ही मन मज़ा लेते हुए कहा—अब हमें कोई ऐसा भोज नहीं खिलाता।

'अब कोई क्या खिलाएगा? वह ज़माना दूसरा था। अब तो सब को किफ़ायत सूझती है। शादी-ब्याह में मत खर्च करो, क्रिया-कर्म में मत खर्च करो, पूछो, ग़रीबों का माल बटोर-बटोर कर कहाँ रखोगे! बटोरने में तो कमी नहीं है। हाँ, खर्च में किफ़ायत सूझती है?'

'तुमने एक बीस पूड़ियाँ खायी होंगी?'

'बीस से ज़्यादा खायी थीं।'

'मैं पचास खा जाता!'

'पचास से कम मैंने न खायी होगी। अच्छा पट्ठा था। तू तो मेरा आधा भी नहीं है।'

आलू खाकर दोनों ने पानी पिया और वहीं अलाव के सामने अपनी धोतियाँ ओढ़कर पाँव पेट में डाले सो रहे। जैसे दो बड़े-बड़े अजगर गेंडुलियाँ मारे पड़े हों।

और बुधिया अभी तक कराह रही थी।

(२)

सवेरे माधव ने कोठरी में जाकर देखा, तो उसकी स्त्री ठण्डी हो गयी थी। उसके मुँह पर मक्खियाँ भिनक रही थीं। पथराई हुई आँखें ऊपर टँगी हुई थीं। सारी देह धूल से लथपथ हो रही थी। उसके पेट में बच्चा मर गया था।

माधव भागा हुआ घीसू के पास आया। फिर दोनों ज़ोर-ज़ोर से हाय-हाय करने और छाती पीटने लगे। पड़ोसवालों ने यह रोना-धोना सुना तो दौड़े हुए आये और पुरानी मर्यादा के अनुसार इन अभागों को समझाने लगे।

मगर ज़्यादा रोने-पीटने का अवसर न था। कफ़न की और लकड़ी की फ़िक्र करनी थी। घर में तो पैसा इस तरह ग़ायब था, जैसे चील के घोंसले में मास।

बाप-बेटे रोते हुए गाँव के ज़मींदार के पास गये। वह इन दोनों की सूरत से नफ़रत करते थे। कई बार इन्हें अपने हाथों पीट चुके थे। चोरी करने के लिए, वादे पर काम पर न आने के लिए। पूछा—क्या है बे घिसुआ, रोता क्यों है? अब तो तू कहीं दिखाई भी नहीं देता! मालूम होता है, इस गाँव में रहना नहीं चाहता।

घीसू ने ज़मीन पर सिर रखकर आँखों में आँसू भरे हुए कहा—सरकार! बड़ी विपत्ति में हूँ। माधव की घरवाली रात को गुज़र गयी। रात भर तड़पती रही सरकार! हम दोनों उसके सिरहाने बैठे रहे। दवा-

दारू जो कुछ हो सका, सब कुछ किया, मुदा वह हमें दग़ा दे गयी। अब कोई एक रोटी देनेवाला भी न रहा मालिक! तबाह हो गये। घर उजड़ गया। आपका ग़ुलाम हूँ, अब आपके सिवा कौन उसकी मिट्टी पार लगाएगा। हमारे हाथ में जो कुछ था, वह सब तो दवा-दरू में उठ गया। सरकार ही की दया होगी तो उसकी मिट्टी उठेगी। आपके सिवा किसके द्वार पर जाऊँ

ज़मींदार साहब दयालु थे। मगर घीसू पर दया करना काले कम्बल पर रङ्ग चढ़ाना था। जी में तो आया, कह दें, चल, दूर हो यहाँ से; यों तो बुलाने से भी नहीं आता, आज जब ग़रज़ पड़ी तो आकर ख़ुशामद कर रहा है। हरामख़ोर कहीं का, बदमाश! लेकिन यह क्रोध या दण्ड का अवसर न था। जी में कुढ़ते हुए दो रुपये निकाल कर फेंक दिये। मगर सान्त्वना का एक शब्द भी मुँह से न निकला। उसकी तरफ़ ताका तक नहीं। जैसे सिर का बोझ उतारा हो।

जब ज़मींदार साहब ने दो रुपये दिये, तो गाँव के बनिए महाजनों को इनकार का साहस कैसे होता? घीसू ज़मींदार के नाम ढिंढोरा भी पीटना जानता था। किसी ने दो आने दिये, किसी ने चार आने। एक घण्टे में घीसू के पास पाँच रुपये की अच्छी रक़म जमा हो गयी। कहीं से नाज मिल गया, कहीं से लकड़ी। और दोपहर को घीसू और माधव बाज़ार से कफ़न लाने चले। इधर लोग बाँस-वाँस काटने लगे।

गाँव की नर्म-दिल स्त्रियाँ आ-आकर लाश को देखती थीं, और उसकी बेकसी पर दो बूंद आँसू गिराकर चली जाती थीं।

(३)

बाज़ार में पहुँच कर घीसू बोला—लकड़ी तो उसे जलाने भर को मिल गयी है, क्यों माधव!

माधव बोला—हाँ, लकड़ी तो बहुत है, अब कफ़न चाहिए।

'तो चलो, कोई हलका-सा कफ़न ले लें।'

'हाँ, और क्या! लाश उठते-उठते रात हो जायगी। रात को कफ़न कौन देखता है?'

'कैसा बुरा रिवाज़ है कि जिसे जीते जी तन ढाँकने को चीथड़ा भी न मिले, उसे मरने पर नया कफ़न चाहिए।'

'कफ़न लाश के साथ जल ही तो जाता है।'

'और क्या रखा रहता है? यही पाँच रुपये पहले मिलते, तो कुछ दवा-दारू कर लेते।'

दोनों एक दूसरे के मन की बात ताड़ रहे थे। बाज़ार में इधर-उधर घूमते रहे। कभी इस बजाज की दूकान पर गये, कभी उसकी दूकान पर। तरह-तरह के कपड़े, रेशमी और सूती देखे, मगर कुछ जँचा नहीं। यहाँ तक कि शाम हो गयी। तब दोनों न जाने किस दैवी प्रेरणा से एक मधुशाला के सामने आ पहुँचे और जैसे किसी पूर्व-निश्चित व्यवस्था से अन्दर चले गये। वहाँ ज़रा देर तक दोनों असमंजस में खड़े रहे। फिर घीसू ने गद्दी के सामने जाकर कहा—साहु जी, एक बोतल हमें भी देना।

इसके बाद कुछ चिखौना आया, तली हुई मछलियाँ आयीं और दोनों बरामदे में बैठकर शान्तिपूर्वक पीने लगे।

कई कुज्जियाँ ताबड़तोड़ पीने के बाद दोनों सरूर में आ गये।

घीसू बोला—कफ़न लगाने से क्या मिलता? आखिर जल ही तो जाता। कुछ बहू के साथ तो न जाता।

माधव आसमान की तरफ़ देखकर बोला, मानों देवताओं को अपनी

निष्पापता का साक्षी बना रहा हो—दुनियाँ का दस्तूर है, नहीं, लोग बाभनों को हज़ारों रुपये क्यों दे देते हैं। कौन देखता है, परलोक में मिलता है या नहीं !

'बड़े आदमियों के पास धन है, फूँकें ! हमारे पास फूँकने को क्या है ?'

'लेकिन लोगों को जवाब क्या दोगे ? लोग पूछेंगे नहीं, कफ़न कहाँ है ?'

घीसू हँसा—अबे कह देंगे कि रुपये कमर से खिसक गये। बहुत ढूँढ़ा, मिले नहीं। लोगों को विश्वास तो न आएगा, लेकिन फिर वही रुपए देंगे।

माधव भी हँसा—इस अनपेक्षित सौभाग्य पर। बोला—बड़ी अच्छी थी बेचारी ! मरी भी तो ख़ूब खिला-पिला कर !

आधी बोतल से ज़्यादा उड़ गयी। घीसू ने दो सेर पूड़ियाँ मंगायीं। चटनी, अचार, कलेज़ियाँ। शराबख़ाने के सामने ही दूकान थी। माधव लपक कर दो पत्तलों में सारे सामान ले आया। पूरा डेढ़ रुपया ख़र्च हो गया, सिर्फ़ थोड़े से पैसे बच रहे।

दोनों इस वक़्त इस शान से बैठे हुए पूड़ियाँ खा रहे थे जैसे जंगल में कोई शेर अपना शिकार उड़ा रहा हो। न जवाबदेही का ख़ौफ़ था, न बदनामी की फ़िक्र। इन भावनाओं को उन्होंने बहुत पहले ही जीत लिया था।

घीसू दार्शनिक भाव से बोला—हमारी आत्मा प्रसन्न हो रही है, तो उसे पुन्न न होगा ?

माधव ने श्रद्धा से सिर झुकाकर तसदीक़ की—ज़रूर से ज़रूर होगा। भगवान्, तुम अन्तर्यामी हो। उसे बैकुण्ठ ले जाना। हम दोनों हृदय से आशीर्वाद दे रहे हैं। आज जो भोजन मिला वह कभी उम्र भर न मिला था।

एक क्षण के बाद माधव के मन में एक शंका जागी। बोला—क्यों दादा, हम लोग भी तो एक दिन वहाँ जायँगे ही।

घीसू ने उस भोलेभाले सवाल का कुछ उत्तर न दिया। वह परलोक की बातें सोचकर इस आनंद में बाधा न डालना चाहता था।

'जो वहाँ वह हम लोगों से पूछे कि तुमने हमें कफ़न क्यों नहीं दिया तो क्या कहोगे?'

'कहेंगे तुम्हारा सिर!'

'तू कैसे जानता है कि उसे कफन न मिलेगा? तू मुझे ऐसा गधा समझता है? साठ साल क्या दुनियाँ में घास खोदता रहा हूँ! उसको कफ़न मिलेगा और इससे बहुत अच्छा मिलेगा।'

माधव को विश्वास न आया। बोला, कौन—कौन देगा? रुपये तो तुमने चट कर दिये। वह तो मुझसे पूछेगी। उसकी माँग में तो सेंदूर मैंने डाला था।

घीसू गर्म होकर बोला—मैं कहता हूँ, उसे कफ़न मिलेगा, तू मानता क्यों नहीं?

'कौन देगा, बताते क्यों नहीं?'

'वही लोग देंगे, जिन्होंने कि अबकी दिया। हाँ, अबकी रुपये हमारे हाथ न आयेंगे।'

ज्यों ज्यों अंधेरा बढ़ता था और सितारों की चमक तेज़ होती थी, मधुशाला की रौनक़ भी बढ़ती जाती थी। कोई गाता था, कोई डींग मारता था, कोई अपने संगी के गले लिपटा जाता था। कोई अपने दोस्त के मुँह में कुल्हड़ लगाये देता था।

वहाँ के वातावरण में सरूर था, हवा में नशा। कितने तो यहाँ आकर एक चुल्लू में मस्त हो जाते थे। शराब से ज़्यादा यहाँ की हवा उनपर नशा करती थी। जीवन की बाधाएँ यहाँ खींच लाती थीं और कुछ देर के लिए यह भूल जाते थे कि वे जीते हैं या मरते हैं। या न जीते हैं न मरते हैं।

और यह दोनों बाप-बेटे अब भी मज़े ले लेकर चुसकियाँ ले रहे थे। सब की निगाहें इनकी ओर जमी हुई थीं। दोनों कितने भाग्य के बली हैं! पूरी बोतल बीच में है।

भरपेट खाकर माधव ने बची हुई पूड़ियों का पत्तल उठाकर एक भिखारी को दे दिया, जो खड़ा इनकी ओर भूखी आँखों से देख रहा था। और 'देने' के गौरव, आनन्द और उल्लास का अपने जीवन में पहली बार अनुभव किया।

घीसू ने कहा—ले जा, ख़ूब खा और आशीर्वाद दे! जिसकी कमायी है, वह तो मर गयी। मगर तेरा आशीर्वाद उसे ज़रूर पहुँचेगा। रोयें-रोयें से आशीर्वाद दो, बड़ी गाढ़ी कमायी के पैसे हैं!

माधव ने फिर आसमान की तरफ़ देखकर कहा—वह वैकुण्ठ में जायगी दादा, वैकुण्ठ की रानी बनेगी।

घीसू खड़ा हो गया और जैसे उल्लास की लहरों में तैरता हुआ बोला, हाँ बेटा, वैकुण्ठ में जायगी। किसी को सताया नहीं, किसी को दबाया नहीं। मरते-मरते हमारी ज़िन्दगी की सब से बड़ी लालसा पूरी कर गयी। वह न वैकुण्ठ में जायगी तो क्या ये मोटे-मोटे लोग जायँगे, जो ग़रीबों को दोनों हाथों से लूटते हैं, और अपने पाप को धोने के लिए गंगा में नहाते हैं और मन्दिरों में जल चढ़ाते हैं?

श्रद्धालुता का यह रंग तुरन्त ही बदल गया। अस्थिरता नशे की खासियत है। दुःख और निराशा का दौरा हुआ।

माधव बोला—मगर दादा, बेचारी ने ज़िन्दगी में बड़ा दुःख भोगा। कितना दुःख झेलकर मरी।

वह आँखों पर हाथ रखकर रोने लगा, चीखें मार-मारकर।

घीसू ने समझाया—क्यों रोता है बेटा, खुश हो कि वह माया-जाल से मुक्त हो गयी! जंजाल से छूट गयी। बड़ी भाग्यवान् थी, जो इतनी जल्द माया-मोह के बन्धन तोड़ दिये।

और दोनों खड़े होकर गाने लगे—

'ठगिनी क्यों नैना झमकावे! ठगिनी!'

पियक्कड़ों की आँखें इनकी ओर लगी हुई थीं और यह दोनों अपने दिल में मस्त गाये जाते थे। फिर दोनों नाचने लगे। उछले भी, कूदे भी। गिरे भी, मटके भी। भाव भी बताये, अभिनय भी किये। और आखिर नशे से बदमस्त होकर वहीं गिर पड़े!



श्री 'कौशिक'

जन्म—१८८९ ई०
रचना—१९१३ ई०

जन्म स्थान—अम्बाला
निवास—कानपुर
पेशा—लिखना

आपका नाम श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा है। आपके पिता फ़ौज में स्टोर-कीपर थे। आपने स्कूल में मैट्रिक तक शिक्षा पायी। आप संस्कृत, अंग्रेज़ी, फ़ारसी, उर्दू और बंगला का भी अच्छा ज्ञान रखते हैं। पहले उर्दू में लिखते व कविता करते थे। श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी के संसर्ग से हिन्दी की ओर आये। आप संगीत और फ़ोटोग्राफ़ी से बहुत शौक़ रखते हैं।

आप कई बातों में प्रेमचन्द जी के नज़दीक हैं। आपके सामाजिक विचार और आदर्श उदार और सुधारवादी हैं। पारिवारिक जीवन का चित्रण करने में आप सब लेखकों से आगे बढ़ गये हैं। ऐसा सुन्दर व स्वाभाविक चित्रण होता है कि दृश्य सामने खड़ा हो जाय।

आपकी भाषा व शैली भी सीधी-सादी व गतिपूर्ण है। आपकी टेकनीक में कथोपकथन का स्थान महत्वपूर्ण है। प्लाट बहुत सरल, उलझन से रहित।

आपकी रचनाओं का आदर्श समाज-सुधार व आदर्शों का प्रचार ही है। अतः कला की बारीकी की ओर आपका ख़्याल कम गया है। आपने पत्रिकाओं में बहुत लिखा है और लिख रहे हैं। आपकी कुछ कहानियों का अनुवाद दक्षिण की भाषाओं में हुआ है।

आपकी 'हिन्दुस्तानी' कहानी आपके जातीय आदर्श और राष्ट्र-प्रेम का उदाहरण है। हिन्दू-मुसलमानों को किस पड़ोसी-धर्म का आदर्श निभाना चाहिये—इसका सुन्दर चित्रण इसमें है। यह भी अच्छी तरह दिखाया गया है कि आज इन दोनों में किस तरह—बिला किसी ख़ास वजह के, झूठे अभिमान के कारण—फूट व विरोध पैदा हो जाता है।

रचनाएँ :—

उपन्यास—माँ, भिखारिणी।

कहानी-संग्रह—चित्रशाला, मणिमाला, कल्लोल, यूथिका।

नाटक—भीष्म।

व्यंग-हास्य—दुबे जी की चिट्ठी।

अनुवाद—एक बंगला उपन्यास व एक नाटक।



हिन्दुस्तानी

खाँ साहब को रंग में सराबोर देखकर उनका नौकर ग़फ़ूर बोला—"हुज़ूर यह रंग कैसा?" ख़ाँ साहब ने उत्तर दिया—"भाई, क्या कहूँ, किशोरीलाल के यहाँ बैठा हुआ था, वहीं एक साहब ने धोखे से मुझ पर भी डाल दिया।"

ग़फ़ूर—"कौन मरदूद था? ख़ुदा की क़सम, अगर बाबू किशोरीलाल के घर की बात न होती तो अभी जाके टांगें चीर डालता मरदूद की—वह भी क्या याद करता कि किसी के साथ होली खेली थी।" खाँ साहब मुस्कुराकर बोले—अरे भाई उन्हें यह मालूम होता कि मैं मुसलमान हूँ तो वह कभी ऐसी हिम्मत न करते। किशोरीलाल ने उन्हें बहुत क़ायल माक़ूल किया। वह बेचारे भी बड़े शरमिन्दा हुए, मुआफ़ी-वाफ़ी माँगने लगे।

ग़फ़ूर—तो हुज़ूर गुस्ल करके कपड़े बदल डालें।

"हाँ, गुस्ल कर डालूँगा" यह कहते हुए ख़ाँ साहब घर के भीतर चले गये।

घर में पहुँचते ही पहले पत्नी से भेंट हुई। वह ख़ाँ साहब को इस रंग में देख झुंझला कर बोली—ऊई! आज यह क्या सूरत बनाई है? हिन्दुओं के साथ बैठकर होली भी खेलने लगे।

ख़ाँ साहब—मआज़ अल्लाह! तुम भी क्या बातें करती हो?

ख़ाँ साहब की पत्नी ने कहा—तो आखिर यह सूरत कैसे बनी?

ख़ाँ साहब—बाबू किशोरीलाल के यहाँ बैठा था—एक साहब ने औरों पर रंग छोड़ा, धोखे से मुझ पर भी डाल दिया। लोग हाँ हाँ करते ही रहे, मगर उन्होंने कुछ ख़याल न किया। जब उन्हें मालूम हुआ कि मुसलमान हूँ तो बेचारे बहुत शर्माये।

पत्नी—तो तुम्हें आजकल ऐसी जगह जाने की ही क्या ज़रूरत थी? होली के दिनों में तो हिन्दुओं पर शैतान सवार रहता है।

ख़ाँ साहब—शैतान सवार रहता है गँवारों पर, यह तो एक इत्तफ़ाकिया बात थी।

पत्नी—किशोरीलाल के घर में मुझे इन दिनों कई बार बुलाया, मगर मैं इसी डर से नहीं गयी। वह बेचारी तो हमारी मज़हबी बातें जानती हैं; मगर उनके यहाँ इधर उधर की मस्तानियाँ जमा होती हैं, वे इतना ऊधम मचाती हैं कि तौबा ही भली—अपने आगे किसी की सुनतीं ही नहीं।

ख़ाँ साहब—उनका तो तिहवार है। उनके यहाँ तो रंग खेलना ज़रूरी बात है।

पत्नी—तो उनके यहाँ हुआ करे, हमारे यहाँ तो नहीं है। ख़ैर, जो

हुआ सो हुआ, अब गुस्ल कर डालो। कपड़े तो बर्बाद हो ही गये—यह रंग भला अब क्या छूटेगा।

ख़ाँ साहब—"कच्चा होगा तो छूट जायगा।" यह कहकर ख़ाँ साहब अपने कमरे में चले गये। ख़ाँ साहब की सज्जनता को सब मानते थे। उनके सब से मिल-जुलकर रहने के स्वभाव ने क्या हिन्दू, क्या मुसलमान सब को उनका शुभचिन्तक बना रखा था। विशेषतः बाबू किशोरीलाल तो ख़ाँ साहब के व्यवहार से इतने प्रसन्न थे कि वह ख़ाँ साहब को अपना सच्चा मित्र समझते थे। वह प्रायः अपने मित्रों से कहा करते थे—"यदि आज तक मुझे कोई ऐसा व्यक्ति मिला है जिसमें धार्मिक द्वेष छू नहीं गया तो वह हमारे मुहल्ले के अब्बासअली ख़ाँ हैं।" यह असम्भव था कि कोई ख़ाँ साहब को बुरा कहे और किशोरीलाल चुपचाप सुना करें।

प्रायः ऐसा होता था कि ख़ाँ साहब के लिए किशोरी उन लोगों से लड़ पड़ते थे जिनकी राय को वह सदैव शिरोधार्य करने के लिए प्रस्तुत रहते थे। जब ख़ाँ साहब को उनके इस प्रकार लड़ने की बात ज्ञात होती थी तो कुछ मृदुहास्य मिश्रित अप्रसन्नता के साथ कहा करते, "भाई किशोरीलाल! तुम्हारी यह आदत मुझे पसन्द नहीं। तुम बिला वजह मेरे पीछे लड़ते फिरते हो! आख़िर तुम्हें इस लड़ाई-झगड़े से मिलता क्या है? ख़्वाह-मख़्वाह किसी से दुश्मनी पैदा करना कौनसी अक़्लमन्दी है?"

किशोरीलाल इसके उत्तर में उत्तेजित होकर कहते थे—ख़ाँ साहब! आपकी कोई शख़्स बुराई करे और मैं ख़ामोश सुना करूँ? मुझसे तो हर्गिज़ नहीं हो सकता कि लोग आपकी ज़ात पर हमला करें और मैं चुप रहूँ।

ख़ाँ साहब हँसकर कहते थे—भाई, तुम्हारा लड़कपन नहीं जाता, यह अफ़सोस की बात है। अरे म्याँ, किसी के हमला करने से होता ही क्या है? मैं तो जैसा हूँ ख़ुदा के फ़ज़्लो करम से वैसा ही रहूँगा। लोग अपना दिल ख़ुश करते हैं—करने दो। अगर मेरी बुराई करने से किसी का दिल

खुश होता हो, किसी को नफ़ा पहुँचता हो तो क्या हर्ज़ है। मगर तुम्हें मैं यह सलाह नहीं देता कि तुम मेरे लिए तमाम ज़माने से दुश्मनी मोल लेते फिरो।"

इस पर किशोरीलाल निरुत्तर होकर कह दिया करते थे—"आपका फ़र्माना बजा व दुरुस्त है, मगर करूँ क्या, मेरी तबीयत नहीं मानती।"

किशोरीलाल का मकान ख़ाँ साहब के मकान के निकट ही था। अतएव कभी किशोरीलाल ख़ाँ साहब के यहाँ और कभी ख़ाँ साहब किशोरीलाल के पास जा बैठते थे। दोनों घरों की स्त्रियों में भी परस्पर मेल था और घर में आना जाना भी रहता था। होली, दीवाली पर किशोरीलाल ख़ाँ साहब के यहाँ मिठाई भेजा करते थे और ईद, बक़र्ईद पर ख़ाँ साहब किशोरीलाल के यहाँ।

ख़ाँ साहब के एक पुत्र थे जिनका नाम बशीर अहमद ख़ाँ था। वह अलीगढ़ कालेज में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। इस वर्ष फ़ोर्थ ईयर (Fourth year) की परीक्षा देकर घर आये हुए थे। उन्हें ख़ाँ साहब का हिन्दुओं के साथ इस प्रकार मिलता-जुलना बड़ा बुरा मालूम होता था। उन्होंने ख़ाँ साहब से इस बात की शिकायत भी की, परन्तु ख़ाँ साहब सदैव उनकी बात को हँसकर टाल दिया करते थे।

२

बशीर अहमद ख़ाँ अपने एक मित्र से मिलने गये हुए थे। वहाँ से वह उस समय लौटे जब कि ख़ाँ साहब स्नान कर रहे थे। उनके द्वार पर पैर रखते ही ग़फ़ूर ने कहा—छोटे हुज़ूर, आज तो बड़े हुज़ूर ने ग़ज़ब किया—होली खेलकर आये हैं।

बशीर अहमद चौंककर बोले—क्या कहा? होली खेलकर?

ग़फ़ूर—हुज़ूर ख़ुद जाकर देख लीजिये। ग़लत निकले तो जो चोर की सज़ा वह मेरी सज़ा। उस वक्त आप होते तो तमाशा देखते।

बशीर—मुझे ऐसी हरक़तें पसंद नहीं। मैं मज़हब के मुआमिले के बहुत सख़्त हूँ।

ग़फ़ूर ने सुअवसर पाकर बशीर अहमद को भड़काने के लिए कहा—ख़ैर जाने दीजिये जो हुआ सो हुआ।

बशीर—मुझे अब्बाजान की समझ पर अफ़सोस आता है।

ग़फ़ूर—तो ख़ुदा के लिए जाते ही न उलझ पड़ियेगा, वरना बड़े हुज़ूर समझ जावेंगे कि ग़फ़ूर ने कच्चा चिट्ठा जड़ दिया। आप और वह तो लड़-भिड़कर एक हो जावेंगे, मुफ़्त में मत्थे मुझ ग़रीब के जायगी।

बशीर अहमद ने इसका कुछ उत्तर न दिया और क्रोध में भरे हुए अन्दर पहुँचे। ख़ाँ साहब स्नान करके तौलिये से शरीर पोंछ रहे थे। बशीर अहमद ने ग़फ़ूर के कारण क्रोध को दबाकर नम्रतापूर्वक पूछा—"आज यह बेवक्त गुस्ल कैसा?" ख़ाँ साहब बशीर अहमद के स्वभाव और उनके विचारों से भली-भाँति परिचित थे। अपने बछड़े के दाँत कौन नहीं पहचानता। बशीर अहमद के प्रश्न से उनका हृदय धड़कने लगा। हृदय कड़ा करके हँस दिये और केवल इतना कहा—क्या कहें, एक इत्तफ़ाक़िया ज़रूरत पेश आ गयी।

बशीर अहमद ने किञ्चित् कर्कश-स्वर में कहा—इत्तफ़ाक़ कैसा? कुछ मालूम भी तो हो।

बशीर अहमद की माता दालान में बैठी पान बना रही थीं। उन्होंने वहीं से कहा—"ऐ, तो अब छिपाने से क्या फ़ायदा? बतलाओ क्यों नहीं देते। तुम तो ऐसे छिपाते हो जैसे क़सदन होली खेलकर आये हो।" ख़ाँ साहब कुछ अप्रसन्न हो बोले—तुम्हारी अक्ल को तो घुन लग गया है।

भला मैं क़सदन होली खेलूँगा? कहते भी शर्म नहीं लगती। लो साहब इस बुढ़ापे में होली खेलूँगा, तौबा तौबा!

बशीर अहमद अपने क्रोध की बागें ढीली करके बोले—तो यह कहिये आज आपने होली भी खेल डाली।

ख़ाँ साहब घबराकर बोले—बेटा, तुम भी इनकी बातों में आ गये। औरतें तो नासमझ होती ही हैं। क्या तुम्हें मुझसे उम्मीद है कि मैं होली खेलूँगा!

बशीर—अब्बाजान क़सूर मुआफ़, आपके मिज़ाज से यह बात कुछ दूर नहीं है।

ख़ाँ साहब—लाहौल वलाक़ुअत, क्या कुफ़्र बकते हो!

बशीर—जब आप ही कुफ़्र के हामी हो रहे हैं तो मैं अगर कुफ़्र बकूँ तो क्या गुनाह है?

ख़ाँ साहब—भाई पूरी बात भी सुनोगे या अपनी ही कहे जाओगे। किशोरीलाल के यहाँ मैं बैठा हुआ था, वहाँ उनके एक दोस्त आये। उन बेचारों को यह न मालूम था कि मैं मुसलमान हूँ—धोखे से मुझ पर भी रंग डाल दिया। अब तुम्हीं बताओ इसमें मेरा क्या क़ुसूर है। क़ुसूर उनका भी नहीं। उन्हें मेरे मुसलमान होने का इल्म ही न था।

बशीर—क़ुसूर सरासर आपका है। आप अपनी वज़ा ऐसी क्यों रखते हैं जिससे धोखा हो? अम्मीजान! उस रोज़ मेरे दोस्त अहमद मिर्ज़ा आये थे। उन्होंने दबी ज़बान से कहा था, भाई बशीर बुरा न मानना, तुम्हारे वालिद साहब आधे हिन्दू हैं। अल्लाह जानता है उस वक़्त मैं शर्म के मारे अर्क़ अर्क़ हो गया। मेरे मुँह से जवाब न निकला और जवाब हो ही क्या सकता था, उनके सामने तो मिसाल मौजूद थी। और एक अहमद मिर्ज़ा ही पर क्या, जो सच्चा मुसलमान देखता है वही यह बात

कहता है। छोटे चचा भी बारहा यही बात कह चुके हैं। कई बार उनसे और अब्बाजान से इसी बात पर बहस-मुबाहसा भी हो चुका है।

ख़ाँ साहब बोले—तुम्हारे छोटे चचा में तो तास्सुब कूट-कूटकर भरा है और मुझे तास्सुब से नफ़रत है। मेरा तो उसूल यह है कि हिन्दू मुसलमानों को इस तरह पर रहना चाहिए गोया दोनों भाई भाई हैं। रहा मज़हब, उसके लिए इतना काफ़ी है कि दोनों अपने अपने मज़हब पर क़ायम रहें।

बशीर—सुभान अल्लाह! क्या अच्छा उसूल है।

ख़ाँ साहब चौकी से उतर आये और अपना कुरता पहनते हुए बोले—अब आजकल जब कि हिन्दू-मुसलिम इत्तहाद का सवाल इस ज़ोर-शोर से छिड़ा हुआ है और हमारे व हिन्दुओं के बड़े बड़े उलमा और लीडर इसके हामी हैं तब तुम इस उसूल को ग़लत नहीं कह सकते।

बशीर—मैं कहता हूँ सब फ़िज़ूल है। हिन्दू-मुसलिम यूनिटी का सवाल एक ऐसा सवाल है जो कभी हल नहीं हो सकता। इस्लाम कभी कुफ़्र का शरीक नहीं हो सकता।

ख़ाँ साहब—अगर हम लोगों को हिन्दुस्तान में रहकर आज़ादी हासिल करना है तो ऐसा ज़रूर करना पड़ेगा।

बशीर—मैं पूछता हूँ कि क्या हिन्दू आपकी शिरकत तसलीम करेंगे? हिन्दू-मुसलिम यूनिटी के सवाल में सब से ज़्यादा उलझन हिन्दुओं की जानिब से पैदा की जाती है। ज़रा ग़ौर तो कीजिये कि हम लोग तो हिन्दुओं के घर का पका हुआ खाना खा लें और वह हमारे छुए हुए बर्तन में पानी तक न पियें। अभी उस रोज़ रेल में जिस बर्थ पर मैं बैठा हुआ था उस पर एक हिन्दू भी बैठे हुए थे। उन्होंने इटावा के स्टेशन पर पूरियाँ खरीदीं। ऊपर के बर्थ पर मेरी शेरवानी रक्खी थी। उसका एक कोना लटका हुआ

था। इत्तफ़ाक़ से शेरवानी का कोना पूरियों के दोने से छू गया। बस उन्होंने फ़ौरन पूरियां फेंक दीं, दूसरी ख़रीदीं। बख़ुदा, मेरी आँखों में ख़ून उतर आया। मैंने उसी समय यह अहेद कर लिया कि मैं भी कभी किसी हिन्दू की छुई चीज़ न खाऊँगा तो सिर्फ़ उस हिन्दू की चीज़ जिसको मेरी छुई हुई चीज़ खाने से परहेज़ न होगा। जो लोग हम लोगों से इतनी नफ़रत करते हों, भला उनसे हम किस तरह मिल सकते हैं?

बशीर अहमद की माता बोली—बेटा यह बात तो तुमने ख़ूब कही। सच कहती हूँ, मुझे भी यह बात बड़ी बुरी लगती है। मैं जब किशोरीलाल के यहाँ जाती हूँ और वहाँ कोई चीज़ देती हैं तो इस तरह जैसे अपने हिसाब किसी मेहतरानी को दे रही हों—दूर से। कुछ खिलावेंगी तो अलग एक कोने में बिठकर। मुझे बड़ी शर्म मालूम होती है; मगर करूँ क्या, ज़ब्त करती हूँ। मुई आँखों की मुहब्बत से सब सहना पड़ता है। सोचती हूँ कि इन लोगों के यहाँ ऐसा ही दस्तूर है, ये बेचारी क्या करें।

बशीर—मेरे कहने का और मतलब क्या है? मैं भी तो यही कहता हूँ। हम लोग अपना क़ायदा क्यों छोड़ें। ताली दोनों हाथों से बजती है।

अब खाँ साहब निरुत्तर हो गये। मनुष्य स्वभाव के अनुसार उन्हें हृदय में यह बात स्वीकार करनी पड़ी। उन्होंने इसकी सच्चाई को महसूस किया। बोले——तुम्हारे दलायल ठीक हैं मगर चारा ही क्या है। यह बात तो ज़माने सलफ़ से चली आ रही है। कोई नयी बात नहीं। इसे वह लोग कैसे छोड़ सकते हैं?

बशीर—तो मुआफ़ कीजिये हमारे यहाँ भी जो बात सलफ़ से चली आ रही है, उसे हम भी नहीं छोड़ सकते।

बशीर की माता बोलीं—ऐ, तो इस बहस-मुबाहिसे से क्या हासिल—मुफ़्त की ठाँय ठाँय! बशीर बेटा जाओ तुम कपड़े बदलो। मुझे इन बातों से नफ़रत है। एक बात को लेके घंटों रटना। जो हुआ सो हुआ।

बशीर - हाँ जो हुआ सो हुआ। लेकिन आयन्दा ख़याल रहे।

यह कहकर बशीर अपने कमरे में चले गये।

३

"हुज़ूर, बाबू किशोरीलाल के यहाँ से मिठाई आयी है।"

ख़ाँ साब घर में थे नहीं। बशीर अहमद ग़फ़ूर की बात सुनते ही बाहर निकल आये और ग़फ़ूर से बोले—"कौन लाया है"। ग़फ़ूर ने उत्तर दिया—"उनका नौकर दरवाज़े पर खड़ा है। अन्दर से कोई बरतन मँगवा दीजिये तो उसमें ले लूँ। अच्छा आप क्यों तकलीफ़ करेंगे, मैं ही मामा (दासी) को बुलाये लेता हूँ।"

यह कहकर ग़फ़ूर ज़नानी ड्योढ़ी की ओर बढ़ा। बशीर अहमद बोल उठे—रहने दो, मामा को आवाज़ देने की कोई ज़रूरत नहीं—वापिस कर दो।

ग़फ़ूर चकित होकर बोला—वापिस कर दूँ?

बशीर—हाँ वापिस कर दो।

ग़फ़ूर—क्यों?

बशीर अहमद भृकुटी चढ़ाकर बोले जो मैं कहता हूँ, वह करो।

ग़फ़ूर—गुलाम की क्या मजाल जो आपका हुक्म टाले, मगर बड़े हुज़ूर सुनेंगे तो बहुत नाराज़ होंगे।

बशीर—तुम तो मेरे हुक्म की तामील कर रहे हो, जिम्मेवारी तो मुझ पर है।

ग़फ़ूर—मुझे हुक्म की तामील में कोई उज्र नहीं; मगर हुज़ूर अच्छी तरह इस पर ग़ौर कर लें। बड़े हुज़ूर की और बाबू किशोरी.......।

बशीर—हाँ हाँ, यह सब मुझे मालूम है पर कोई परवा नहीं, वापिस कर दो।

ग़फ़ूर—जैसी हुज़ूर की मर्ज़ी।

यह कहकर चला गया। थोड़ी देर पश्चात् लौटकर बोला—वापिस कर दी, मगर गुस्ताख़ी मुआफ़, हुज़ूर ने आज बड़ा ग़ज़ब किया। बाबू किशोरीलाल को बड़ा सदमा होगा।

बशीर—होने दो, ये लोग इसी क़ाबिल हैं। हमारा और उनका मेल क्या?

ग़फ़ूर—यह बात तो हुज़ूर एक बार फिर कहें—रात और दिन का भी कहीं मेल हुआ है, स्याही और सुफ़ेदी भी कहीं एक हो सकती है?

बशीर—अब्बाजान हिन्दुओं से शीरोशकर होना चाहते हैं, मगर मैं यह कहता हूँ कि यह बात ग़ैरमुमकिन है।

ग़फ़ूर—क्या बात कही है हुज़ूर ने! वल्लाह! क़सम है दादीजान की यही बात कई बार मेरे दिल में आयी, मगर हुज़ूर ज़बान पर लाने को हिम्मत न पड़ी। काहे से कि हुज़ूर मेरी बिसात क्या, टके का आदमी। पढ़ा लिखा भी कुछ नहीं। हुज़ूर की जूतियों के सदके में आध सेर आटे से लगा हुआ हूँ। ख़ुदा बख़्शे, अब्बाजान से बहुतेरा चाहा, लाख लाख कोशिश की, मगर हमें न पढ़ना था, न पढ़े। घर से बस्ता बग़ल में दाब स्कूल के लिए चले और परेट पर आकर डट गये। दिन भर गुल्ली-डंडा खेला, पतंगें उड़ायीं। शाम हुई और घर जा पहुँचे। सो हुज़ूर जैसा किया वैसा भुगत रहे हैं। मगर ख़ुदा का लाख लाख शुक्र है कि हुज़ूर की जूतियों के तुफ़ैल में रोटी-कपड़ा मिल जाता है। मगर देखिये, आज बड़े हुज़ूर की और आपकी कैसी निपटे। क़सम क़ुरान की, सुनते ही आग-बगूला हो जावेंगे।

बशीर—देखा जायगा।

यह कहकर बशीर अहमद मकान के अन्दर चले गये। दो घंटे पश्चात् जब ख़ाँ साहब लौटे तो उन्हें ज्ञात हुआ कि किशोरीलाल के यहाँ से मिठाई आयी थी, परन्तु, बशीर अहमद ने लौटा दी। सुनते ही ख़ाँ साहब का मुख रक्तवर्ण हो गया। बोले—किसके हुक्म से वापिस की गयी?

बशीर अहमद सामने आकर बोला—यह गुस्ताख़ी मुझसे हुई।

ख़ाँ साहब—तुमने ऐसा क्यों किया?

बशीर—इसलिए कि मैं उनसे किसी प्रकार का ताल्लुक़ नहीं रखना चाहता और आपसे भी ऐसा ही करने की इल्तजा करता हूँ।

ख़ाँ साहब—तो तुम्हारी मनशा यह है कि मैं इस बुढ़ौती में किसी को मुँह दिखाने के क़ाबिल न रहूँ?

बशीर—हरगिज़ नहीं, ख़ुदा न करे!

ख़ाँ साहब—क्यों नहीं? किशोरीलाल; अपने जी में क्या कहेंगे और जो कोई सुनेगा वह क्या कहेगा?

बशीर—ज़माने के कहने की परवा करना फ़िज़ूल है। अलबत्ता किशोरीलाल की नाख़ुशी का मैं ज़िम्मेदार हूँ। जब कुछ कहें तो आप सारा क़सूर मेरे सर पर डाल दीजिएगा—मैं उनसे बातचीत कर लूँगा। अगर इसके बाद भी वह मेरी इस हरकत को नामुनासिब बतावें तो मैं कसूरवार।

ख़ाँ साहब का क्रोध इस तर्क के सामने, जो अत्यन्त शिष्टता तथा नम्रतापूर्वक उपस्थित किया गया था, व्यर्थ हो गया। उन्होंने सोचा, जो होना था वह तो हो ही गया; बशीर भी कोई नासमझ बच्चा नहीं, सुशिक्षित है। मेरी बदनामी न चाहेगा। इसने अवश्य कोई बचत का मार्ग रक्खा होगा।

यह सोचकर ख़ाँ साहब ने अपना बड़प्पन स्थिर रखने के लिए कहा—

कुछ भी हो, तुम्हारी यह नाशायस्ता हरकत मुझे बहुत नागवार गुज़री और अगर तुम अपनी गुफ़्तगू से बाबू किशोरीलाल का दिल साफ़ न कर सके तो मुझे सख़्त सदमा होगा।

यह कहकर ख़ाँ साहब कमरे में चले गये। शाम को बाबू किशोरीलाल ख़ाँ साहब के पास दौड़े आये और आते ही कहा—अजी ख़ाँ साहब, यह क्या बात है? आपने मिठाई क्यों लौटा दी? यह बात क्या है? मुझसे क्या क़सूर हुआ? मैं तब से एक उलझन में हूँ, कारण समझ में नहीं आता।

ख़ाँ साहब लज्जित होकर बोले—भाई किशोरीलाल बख़ुदा, मैं मकान पर मौजूद न था, मेरी नामौजूदगी में बशीर गुस्ताख़ी कर बैठा, ख़ुदा जाने क्यों? इसकी जवाब-देही उसी पर है। बैठो, अभी उसे बुलवाता हूँ। (गफ़ूर को बुलाकर) गफ़ूर ज़रा बशीर को बुला लेना। क्या कहूँ मुझे भी बड़ा ताज्जुब हुआ, गुस्सा भी बहुत आया, मगर बशीर ने कहा कि वह तुम्हें इसकी वजह समझा देगा, इसी लिए गुस्सा रोके बैठा हूँ। क्या कहूँ! बराबर का बेटा है और फिर लिखा-पढ़ा, उसकी बात भी सुन लेना चाहिए, देखो क्या कहता है।

किशोरीलाल ने कहा—बशीर मुझसे क्यों नाराज़ हो गये? मैंने तो उनकी............।

किशोरीलाल की बात पूरी होने के पहले ही बशीर अहमद आ गये।

बशीर को देखते ही ख़ाँ साहब बोले—भाई बशीर! किशोरीलाल शिकायत लाये हैं और इनकी शिकायत मेरे सर आँखों पर। लेकिन यह सारे काँटे तुम्हारे ही बोये हुए हैं।

बशीर अहमद किशोरीलाल से बोले—बिला शक इसमें अब्बाजान का कोई क़ुसूर नहीं, मैंने अपनी मर्ज़ी से मिठाई वापिस की थी।

किशोरीलाल ने कहा— मगर इसकी वजह ?

बशीर— बहुत बड़ी वजह तो यह है कि जब आप हमारे घर की और हमारी छुई हुई चीज़ नहीं खाते तो हम आपकी छुई हुई चीज़ क्यों खायें ?

किशोरीलाल को ऐसा उत्तर मिलने की आशा स्वप्न में भी नहीं थी। कुछ देर तक वह सन्नाटे में बैठे रहे। कुछ समझ में नहीं आता था कि क्या जवाब दें। अन्त को सँभल कर बोले—यह तो कोई नयी बात नहीं है।

बशीर—यह कोई दलील नहीं है। मेल-मुहब्बत की पहली बात तो यह है कि वक्त पड़ने पर हम आपको और आप हमें अपने हाथ से खिला सकें। जब आप हमारे हाथ का छुआ हुआ पानी भी नहीं पी सकते तो फिर मेल-मुहब्बत का क्या ज़िक्र? हम इस तौहीनी को कभी नहीं सह सकते कि एक तरफ़ तो आप यह कहते फिरें कि खाँ साहब को हम अपना सगा भाई समझते हैं और दूसरी तरफ़ यह कि अगर खाँ साहब का कपड़ा आपकी किसी खाने की चीज़ से छू जाय तो आप उसे नाली में फेंक दें।

किशोरीलाल— आप तो मज़हबी बातों पर आ गये।

बशीर—"मज़हब को ताक़ पर रख दीजिये, मुल्की मुआमिलात की नज़र से इस पर ग़ौर कीजिये। यह ज़माना तरक्की का है। हमको चाहिये कि हम ज़माने के साथ चलकर अपनी हस्ती क़ायम रखने की कोशिश करें और दूसरी क़ौम के सामने मुमताज़ बनें। पुरानी लकीरें पीटने से अब काम नहीं चल सकता। क्या आप बतला सकते हैं कि अगर हमको ब्रिटिश क़ौम की ग़ुलामी से छुटकारा मिल गया तो हिन्दू मुसलमानों के या मुसलमान हिन्दुओं के मातहत होकर रह सकेंगे? मैं तो कहता हूँ यह ग़ैरमुमकिन है। इसलिए यह नतीजा निकलता है कि अगर हिन्दुस्तान आज आज़ाद हो तो हिन्दू-मुसलमानों में तास्सुब और छूआ-छूत के ऐसे झगड़े होंगे कि हम एक

बला से निकलकर दूसरी बला में फँस जायँगे, जो पहली से ज़्यादा ख़तरनाक है।"

किशोरीलाल बोले—"आप लोगों पर जो इल्ज़ाम रखते हैं, वही इल्ज़ाम आप पर भी आता है। क्या आप ठंडे दिल से कह सकते हैं कि आप लोग हमको उसी नज़र से देखते हैं, जिस नज़र से कि एक मुसलमान को देखते हैं? मान लीजिये कि आज मैं आपके साथ बैठकर खा लूँ तो क्या आपके दिल से यह ख़याल जाता रहेगा कि मैं काफ़िर हूँ? आप गाय की कुर्बानी करते हैं, इससे हम लोगों को कितना दुख होता है। क्या, आप इसे हमेशा के लिए छोड़ सकते हैं? यह तो मज़हबी बात हुई। मुल्की बात यह है कि आप हिन्दुस्तान में पैदा हुए, हिन्दुस्तान के अन्न से पले, हिन्दुस्तान में रहते हैं, लेकिन आपकी मुल्की दिलचस्पी टर्की के साथ रहती है। अगर आज हिन्दुस्तान आज़ाद हो जावे और कल टर्की हिन्दुस्तान पर क़ब्ज़ा जमाने की नियत से इस पर हमला करे तो क्या आप हिन्दुओं के साथ खड़े होकर हिन्दुस्तान को टर्की के पंजे से बचाने की कोशिश करेंगे?" किशोरीलाल के इन प्रश्नों से बशीर अहमद चकराये। उनको ज्ञात हो गया कि किशोरीलाल को भूल से उन्होंने मुलायम चारा समझ रक्खा था। वह कुछ देर तक चुप रहे तत्पश्चात् बोले—"इसमें कोई शक नहीं कि सारा क़ुसूर आप ही लोगों का नहीं कुछ हम लोगों की भी ख़ता है।"

किशोरीलाल—अब आप राह पर आये। जनाब सच बात तो यह है कि आप लोगों को उस समय हम लोगों पर इल्ज़ाम रखने का हक़ हासिल होगा जब आप अपने जी से इन बातों का ख़याल दूर कर देंगे। किसी हद तक मज़हबी इख़्तलाफ़ बुरा नहीं है। आप लोगों में भी ७२ फ़िरके हैं और हर एक उनमें से अपने को अच्छा समझता है। हम लोगों में भी सैकड़ों मत हैं, ईसाइयों में भी रोमन केथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट का झगड़ा है, मगर इनसे उनको कोई नुक़सान नहीं पहुँच सकता। सवाल तो यह

है कि आप अपने को हिन्दुस्तानी समझें। हिन्दुस्तान के हर एक आदमी को, चाहे वह किसी मज़हब का हो, अपना भाई समझें और उनकी जानोमाल की हिफ़ाज़त के लिए आप ज़माने भर के मुक़ाबिले में खड़े हो सकें। उसके हक़ भी उतने ही हों जितने आपके हैं। उसकी आबरू को आप अपनी आबरू समझें। उसके दुख को आप अपना दुख समझें। जिस दिन आप इन बातों को दिल से मानने लगेंगे उस दिन हम लोग भी आपके साथ खाना अपने लिए फ़ख्र की बात समझेंगे। पर अगर आप सिर्फ़ यह कहें कि आप हमारे घर का खा लेते हैं, इसलिए हम भी आपके घर का पका हुआ खा लें तो जनाब यह बात ग़ैरमुमकिन है। आपका जी चाहे खाइये, आपका जी चाहे न खाइये। हम आपका छुआ हुआ नहीं खाते, आप हमारी छाया पड़ा हुआ भी न खाइये, हम खुश, हमारे ईश्वर खुश। जब आप अपनी चाल नहीं बदलते तो हम क्यों बदलें ?

बशीर अहमद बहुत लज्जित हुए—गये थे नमाज़ बख़्शवाने उलटे रोज़े गले पड़े। बड़ी देर तक सिर झुकाये सोचते रहे। इसके पश्चात् सिर उठाकर बोले—अगर मैं अपनी ओर से इन बातों का इतमीनान दिलवा दूँ तो ?

किशोरीलाल— अगर आप मुझे यह विश्वास दिला दें कि आज से आप हिन्दुस्तान तथा हिन्दुस्तानियों को उसी नज़र से देखने लगें जिस नज़र से कि मैं या कोई भी सच्चा हिन्दुस्तानी देख सकता है तो मैं आपके साथ खाना खाने के लिए तैयार हूँ।

"मैं इसके लिए तैयार हूँ।"

यह कहकर बशीर उठकर अपने कमरे में गये और कुरान शरीफ़ की एक प्रति ले आये। कुरान शरीफ़ की प्रति किशोरीलाल को दिखाकर बोले— इससे आपको यक़ीन हो जावेगा ?

किशोरीलाल—बेशक !

बशीर अहमद ने कुरान शरीफ़ की प्रति पर हाथ रखकर कहा—कुरान शरीफ़ को गवाह करके क़सम खाता हूँ कि आज से मैं अपने को हिन्दुस्तानी समझूँगा। हिन्दुस्तानियों को दुनियाँ की सारी क़ौमों से, चाहे वह तुर्क हों चाहे अरब, अच्छा समझूँगा और हमेशा उनकी जानोमाल की हिफ़ाज़त में दूसरी क़ौमों के मुक़ाबिले खड़े होने के लिए तैयार रहूँगा। गाय की कुर्बानी कभी न करूँगा और तमाम बातों को दिल से मानूँगा जो एक सच्चे हिन्दुस्तानी के लिए मानना ज़रूरी है। कहिये अब आपको यक़ीन आ गया?

किशोरीलाल—बेशक, अब आप दस्तरख़्वान बिछवाइये, मैं आपके साथ खाना खाऊँगा।

तुरन्त दस्तरख़्वान बिछवाया गया। खाँ साहब, बशीर अहमद तथा किशोरीलाल ने एक साथ बैठकर भोजन किया। उस समय उन तीनों में न कोई हिन्दू था न मुसलमान, वरन् तीन हिन्दुस्तानी थे जो अपने हिन्दुस्तानी होने का प्रमाण कार्यरूप में दे रहे थे।

श्री 'उग्र

जन्म—१९०१ ई०
जन्म स्थान—चुनार
रचना—१९२० ई०
पेशा—लिखना

आपका नाम है श्री पांडेय बेचन शर्मा। चुनार (यू. पी.) के एक ग़रीब ब्राह्मण-परिवार में आप पैदा हुए। शिक्षा के नाम पर स्कूलों में अधकचरी पढ़ाई ही हुई। मगर आपको जो प्रतिभा का वरदान मिला है, उसके सामने स्कूली शिक्षा नाचीज़ है। आप २० साल की उम्र से लिख रहे हैं। कई पत्रों का संपादन कर चुके हैं। कई फ़िल्मों के वास्ते आपने कहानियाँ लिखी हैं। 'मतवाला' पत्र के साथ आपका नाम जुड़-सा गया था। इधर आप 'विक्रम' पत्रिका का संपादन कर रहे थे।

आपकी प्रतिभा चतुर्मुखी है। आपने कविता, कहानी नाटक, निबन्ध, उपन्यास, व्यंग-हास्य—सब पर सफलता पूर्वक लेखनी चलायी है।

स्वभाव व विचारों में आप अपने नाम के अनुरूप ही 'उग्र' हैं। समाज, सरकार, धर्म, प्रथा, रूढ़ि, गतानुगतिकता—इन सबों के आप जानी दुश्मन हैं। आपने उन्हें बुरी तरह लथेड़ा है। जिसे लिया है उसे फिर हल्दी बुलवाये बिना नहीं

छोड़ा है। उसकी धज्जियाँ उड़ा दी हैं। समाज की कमज़ोरियों को उधेड़कर उस पर नमक छिड़कने में आपसे बढ़कर शायद ही कोई हो। जवानी की उमंग, निश्चिन्तता, उद्दंडता, अलग़रज़ी, आपमें और आपकी रचनाओं में कूट-कूटकर भरी है। हाँ, स्पष्टवादिता (यथार्थवादिता) कहीं कहीं अश्लीलता तक ज़रूर पहुँच जाती है। इसीलिए आप बदनाम भी बहुत हुए हैं। आपकी रचनाओं को लेकर जितना वाद-विवाद पत्रिकाओं में हुआ है उतना हिन्दी के और किसी लेखक को लेकर नहीं हुआ। ज़माने ने भी उग्र जी के साथ मरहबा की ऊँची आवाज़ लगायी है। इनकी रचनाएँ गरम जलेबियों की तरह हाथों-हाथ बिकी हैं। लोग उग्र के पीछे पागल रहे हैं।

उग्र जी भावनाओं से ज़्यादा भाषा के लिए पाठकों के प्रिय रहे हैं। आपके पहले या बाद भी इस तरह की आलंकारिक व ज़ोरदार गद्य—(एकाध को छोड़कर)—किसीने नहीं लिखा है। मालूम होता है—कोश आपकी ज़बान पर, भाषा इशारे पर व मुहावरे उँगलियों पर नाचते रहते हैं। आप भाषा के गुलाम नहीं, बल्कि वही आपकी चेरी है। आप इसी भाषा के ज़ोर से बेजान चीज़ में भी जान डाल देते हैं—उसे सातवें आसमान पर बिठा आते हैं। आपकी भाषा में गति है फिसलन है, आकर्षण है और चकाचौंध है।

आपकी ये सभी ख़ूबियाँ इस "उसकी माँ" कहानी में देखने को मिलती हैं। एक युवक जिसके दिल में देश-प्रेम की आग जलती है, जो जीवन के सुख-भोग को छोड़कर विपत्तियों की आंधी में कूद पड़ता है—उसकी लापरवाही उसका मस्तानापन देखने लायक़ है। मगर सब से ज़्यादा भव्य और दिल में घर कर लेनेवाला भारतमाता के समान 'उसकी माँ' का चित्र है। पढ़ते पढ़ते उस बूढ़ी के दर्द को हम अपने दिल में पाने लगते हैं। धीरे धीरे मालूम पड़ता है लाल की माँ के साथ साथ हमारा दिल भी रुक गया—प्राण निकल गये। बस, कहानीकार की सफलता वहीं मुस्कुरा पड़ती है।

रचनाएँ :—

उपन्यास—चन्द हसीनों के ख़ुतूत; बुधुआ की बेटी, निर्लज्जा, बलात्कार, दिल्ली का दलाल।

कहानी-संग्रह—दोज़ख़ की आग, चाकलेट, चिनगारी, इन्द्र-धनुष।

नाटक—महात्मा ईसा, चुंबन, गंगा का बेटा, अवारा।

प्रहसन—चार बेचारे।



उसकी माँ

दोपहर को ज़रा आराम करके उठा था। अपने पढ़ने-लिखने के कमरे में, खड़ा-खड़ा धीरे-धीरे सिगार पी रहा था और बड़े-बड़े अलमारों में सजे पुस्तकालय की ओर निहार रहा था। किसी महान लेखक की कोई महान कृति उनमें से निकालकर देखने की बात सोच रहा था। मगर, पुस्तकालय के एक सिरे से लेकर दूसरे तक मुझे महान-ही-महान नज़र आये। कहीं गेटे, कहीं रूसो, कहीं मेज़िनी, कहीं निटशे, कहीं शेक्सपियर, कहीं टॉल्स्टाय, कहीं ह्यूगो, कहीं मुपासाँ, कहीं डिकिन्स, स्पेन्सर, मेकाले, मिल्टन, मोलियर—उफ़! इधर से उधर तक एक से एक महान ही तो थे। आखिर मैं किसके साथ चंद मिनट मन-बहलाव करूँ, यह निश्चय ही न हो सका। महानों के नाम ही पढ़ते-पढ़ते परेशान-सा हो गया।

इतने में मोटर का भों-भों सुनाई पड़ा। खिड़की से झाँका तो सुर्मई

रंग की कोई 'फ़िएट' गाड़ी दिखाई पड़ी। मैं सोचने लगा—शायद कोई मित्र पधारे हैं, अच्छा ही है। महानों से जान बची।

जब नौकर ने सलाम कर आनेवाले का कार्ड दिया, तब मैं कुछ घबराया। उस पर शहर के पुलिस सुपरिंटण्डेंट का नाम छपा था। ऐसे बे-वक़्त यह कैसे आगे?

पुलिस-पति भीतर आये। मैंने हाथ मिलाकर एक चक्कर खानेवाली गद्दीदार कुर्सी पर उन्हें आसन दिया वह व्यापारिक मुस्कुराहट से लैस होकर बोले—

"इस अचानक आगमन के लिए आप मुझे क्षमा करें।"

"आज्ञा हो।" मैंने भी नम्रता से कहा।

उन्होंने पाकेट से डायरी निकाली, डायरी से एक तस्वीर—'देखिये इसे। जरा बताइये तो आप पहचानते हैं, इसको?"

"हाँ, पहचानता तो हूँ।" ज़रा सहमते हुए मैंने बताया।

"इसके बारे में मुझे आपसे कुछ कहना है।"

"पूछिये।"

"इसका नाम क्या है?"

"'लाल' मैं इसी नाम से बचपन ही से इसे पुकारता आ रहा हूँ। मगर, यह पुकारने का नाम है। एक नाम कोई और है, सो मुझे स्मरण नहीं।"

"कहाँ रहता है यह?" सुपरिंटण्डेंट ने पुलीस की धूर्तदृष्टि से मेरी ओर देखकर पूछा।

"मेरे बँगले के ठीक सामने, एक दोमंज़िला कच्चा-पक्का घर है, उसी में वह रहता है। वह है और उसकी बूढ़ी माँ।"

"बूढ़ी का नाम क्या है ?"

"जानकी।"

"और कोई नहीं है क्या इसके परिवार में ? दोनों का पालन-पोषण कौन करता है ?"

"सात-आठ वर्ष हुए, लाल के पिता का देहान्त हो गया। अब उस परिवार में वह और उसकी माता ही बचे हैं। उसका पिता जब तक जीवित रहा, बराबर मेरी ज़मीन्दारी का मुख्य मैनेजर रहा। उसका नाम रामनाथ था। वही मेरे पास कुछ हज़ार रुपए जमा कर गया था, जिससे अब तक उनका खरचा-बरचा चल रहा है। लड़का कालेज में पढ़ रहा है। जानकी को आशा है, वह साल-दो-साल बाद कमाने और परिवार को सँभालने लगेगा। मगर,—क्षमा कीजिये, क्या मैं यह पूछ सकता हूँ कि आप इसके बारे में क्यों इतनी पूछताछ कर रहे हैं ?"

"यह तो मैं आपको नहीं बता सकता, मगर इतना आप समझ लें, यह सरकारी काम है। इसीलिए आज मैंने आपको इतनी तकलीफ़ दी है।"

"अजी, इसमें तकलीफ़ की क्या बात है। हम तो सात पुश्त से सरकार के फ़रमाँबरदार हैं। और कुछ आज्ञा...।"

"एक बात और," पुलिस-पति ने गंभीरता से, धीरे से कहा—"मैं मित्रता से आपसे निवेदन करता हूँ। आप इस परिवार से ज़रा सावधान और दूर रहें। फ़िलहाल इससे अधिक मुझे कुछ कहना नहीं।"

२

"लाल की माँ !" एक दिन जानकी को बुलाकर मैंने समझाया—"तुम्हारा लाल आजकल क्या पाजीपना करता है ? तुम उसे केवल प्यार ही करती हो न ? हूँ; भोगोगी।"

"क्या है बाबू ?" उसने कहा—"लाल क्या करता है ? मैं तो उसे कोई भी बुरा काम करते नहीं देखती।"

"बिना किये ही तो सरकार किसी के पीछे पड़ती नहीं। हाँ लाल की माँ, बड़ी धर्मात्मा, विवेकी और न्यायी सरकार यह है। ज़रूर तुम्हारा लाल कुछ करता होगा।"

"माँ ! माँ !!" पुकारता हुआ उसी समय, लाल भी आया। लंबा, सुडौल, सुंदर, तेजस्वी।

"माँ !" उसने मुझे नमस्कार कर जानकी से कहा—"तू यहाँ भाग आयी है। चल तो, मेरे कई सहपाठी वहाँ खड़े हैं। उन्हें चट-पट कुछ जलपान करा दे। फिर हम घूमने जाएँगे।"

"अरे !" जानकी के चेहरे की झुर्रियाँ चमकने लगीं, काँपने लगीं, उसे देखकर—"तू आ गया लाल, चलती हूँ भैया। पर देख तो, तेरे चाचा क्या शिकायत कर रहे हैं। तू क्या पाजीपन करता है बेटा ?"

"क्या है चाचाजी ?" उसने सविनय, सुमधुर स्वर से मुझसे पूछा—"मैंने क्या अपराध किया है ?"

"मैं तुमसे नाराज़ हूँ लाल !" मैंने गंभीर स्वर में कहा।

"क्यों चाचाजी ?"

"तुम बहुत बुरे होते जा रहे हो, जो सरकार के विरुद्ध षड्यन्त्र करनेवालों के साथी हो। हाँ, हाँ—तुम हो। देखो लाल की माँ; इसके चेहरे का रंग उड़ गया। यह सोचकर कि यह ख़बर मुझे कैसे मिली !"

सचमुच एक बार उसका खिला हुआ रंग ज़रा मुरझा गया, मेरी बातों से। पर तुरन्त ही वह सँभला।

"आपने ग़लत सुना, चाचाजी। मैं किसी षड्यन्त्र में नहीं। हाँ, मेरे विचार स्वतन्त्र अवश्य हैं। मैं ज़रूरत-बेज़रूरत जिस-तिस के आगे उबल अवश्य उठता हूँ, देश की दुरवस्था पर उबल उठता हूँ, इस पशु-हृदया परतन्त्रता पर।"

"तुम्हारी ही बात सही, तुम षड्यन्त्र में नहीं, विद्रोह में नहीं, पर यह बकबक क्यों? इससे फ़ायदा? तुम्हारी इस बकबक से न तो देश की दुर्दशा दूर होगी और न उसकी पराधीनता। तुम्हारा काम पढ़ना है—पढ़ो। इसके बाद कर्म करना होगा, परिवार और देश की मर्यादा बचानी होगी। तुम पहले अपने घर का उद्धार तो कर लो, तब सरकार के सुधार का विचार करना।"

उसने नम्रता से कहा—"चाचाजी, क्षमा कीजिये। इस विषय में मैं आपसे विवाद करना नहीं चाहता।"

"चाहना होगा, विवाद करना होगा। मैं केवल चाचाजी नहीं, तुम्हारा बहुत कुछ हूँ। तुम्हें देखते ही मेरी आँखों के सामने रामनाथ नाचने लगते हैं। तुम्हारी बूढ़ी माँ, घूमने लगती हैं। भला, मैं तुम्हें बेहाथ होने दे सकता हूँ। इस भरोसे न रहना।"

"इस पराधीनता के विवाद में, चाचाजी, मैं और आप दो भिन्न सिरों पर हैं। आप कट्टर राज-भक्त, मैं कट्टर राज-विद्रोही। आप पहली बात को उचित समझते हैं, कुछ कारणों से, मैं दूसरी को, दूसरे कारणों से। आप अपना पथ छोड़ नहीं सकते—अपनी प्यारी कल्पनाओं के लिए। मैं अपना भी नहीं छोड़ सकता।"

"तुम्हारी कल्पनाएँ क्या हैं? सुनूँ भी ज़रा मैं भी, जान लूँ कि अब के लड़के, कालेज की गर्दन तक पहुँचते-पहुँचते, कैसे-कैसे हवाई क़िले उठाने के सपने देखने लगते हैं। ज़रा मैं भी सुनूँ—बेटा!"

"मेरी कल्पना यह है कि, जो व्यक्ति, समाज या राष्ट्र, किसी अन्य व्यक्ति समाज या राष्ट्र के नाश पर जीता हो—उसका सर्वनाश हो जाय।"

जानकी उठकर बाहर चली।—"अरे, तू तो जमकर चाचा से जूझने लगा। वहाँ चार बच्चे बेचारे दरवाज़े पर खड़े होंगे। लड़ तू, मैं जाती हूँ।" उसने मुझसे कहा—"समझा दो बाबू, मैं तो आप ही कुछ नहीं समझती, फिर इसे क्या समझाऊँगी।" उसने फिर लाल की ओर देखा—"चाचा जो कहें, मान जा बेटा। यह तेरे भले ही की कहेंगे।"

वह बेचारी, कमर झुकाये उस साठ बरस की वय में भी घूँघट सँभाले, चली गयी। उस दिन उसने मेरी और लाल की बातों की गंभीरता नहीं समझी।

"मेरी कल्पना यह है कि" उत्तेजित स्वर से लाल ने कहा—"ऐसे दुष्ट, नाशक, व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के सर्वनाश में मेरा भी हाथ हो।"

"तुम्हारे हाथ दुर्बल हैं; उनसे, जिनसे तुम पंजा लेने जा रहे हो, चरर-मरर हो उठेंगे। नष्ट हो जायँगे।"

"चाचा जी, नष्ट हो जाना तो यहाँ का नियम है। जो सवाँरा गया है वह बिगड़ेगा ही। हमें दुर्बलता के डर से अपना काम नहीं रोकना चाहिए। कर्म के समय हमारी भुजाएँ दुर्बल नहीं, भगवान की सहस्र भुजाओं की सखी हैं।"

"तो, तुम क्या करना चाहते हो?"

"जो भी मुझसे हो सकेगा, करूँगा।"

"षड्यन्त्र...?"

"ज़रूरत पड़ी तो ज़रूर...।"

"विद्रोह... ?"

"हाँ, अवश्य !"

"हत्या... ?"

"हाँ-हाँ-हाँ।"

"बेटा तुम्हारा माथा, न जाने कौन किताब पढ़ते-पढ़ते, बिगड़ रहा है। सावधान !"

३

मेरी धर्मपत्नी और लाल की माँ, एक दिन बैठी हुई बातें कर रही थीं कि मैं पहुँच गया। कुछ पूछने के लिए कई दिनों से मैं उसकी तलाश में था।

"क्यों लाल की माँ ! लाल के साथ किसके लड़के आते हैं, तुम्हारे घर में ?"

"मैं क्या जानूँ बाबू" उसने सरलता से कहा—"मगर वे सभी मेरे लाल ही की तरह प्यारे मुझे दिखते हैं। सब लापरवाह। वे इतना हँसते-गाते और हो-हल्ला मचाते हैं, कि मैं मुग्ध हो जाती हूँ।"

मैंने एक ठंडी साँस ली—"हूँ, ठीक कहती हो। वे बातें कैसी करते हैं ? कुछ समझ पाती हो ?"

"बाबू, वे लाल की बैठक में बैठते हैं। कभी-कभी जब मैं उन्हें कुछ खिलाने-पिलाने जाती हूँ, तब वे बड़े प्रेम से मुझे 'माँ' कहते हैं। मेरी छाती फूल उठती है—मानो, वे मेरे ही बच्चे हैं।"

"हूँ..." मैंने फिर साँस ली।

"एक लड़का उनमें बहुत ही हँसोड़ है। खूब तगड़ा और बली दिखता।

है। लाल कहता था, वह डंडा लड़ने में, दौड़ने में, घूसे-बाजी में, खाने में छेड़खानी करने और हो-हो हा-हा कर हँसने में समूचे कालेज में फ़र्द है। उसी लड़के ने एक दिन, जब मैं उन्हें हलवा परस रही थी, मेरे मुँह की ओर देखकर कहा—माँ! तू तो ठीक भारत-माता-सी लगती है। तू बूढ़ी, वह बूढ़ी। उसका हिमालय उजला है, तेरे केश। हाँ, मैं नकशे से साबित करता हूँ—तू भारत-माता है। सर तेरा हिमालय, माथे की दोनों गहरी, बड़ी रेखाएँ गंगा और यमुना। यह नाक विन्ध्याचल, दाढ़ी कन्याकुमारी तथा छोटी-बड़ी झुर्रियाँ-रेखाएँ भिन्न भिन्न पहाड़ और नदियाँ हैं। ज़रा पास आ मेरे। तेरे केशों को पीछे से आगे—बाएँ कन्धे पर लहरा दूँ। वह बर्मा बन जायगा। बिना उसके भारत-माता का शृङ्गार शुद्ध न होगा।"

जानकी उस लड़के की बातें सोच गद्‌गद हो उठी, "बाबू ऐसा ढीठ लड़का। सारे बच्चे हँसते रहे और उसने मुझे पकड़, मेरे बालों को बाहर कर अपना बर्मा तैयार कर लिया। कहने लगा—देख, तेरा यह दाहिना कान 'कच्छ' की खाड़ी है—बम्बई के आगेवाली; और यह बायाँ-बंगाल की खाड़ी। माँ! तू सीधा मुँह करके ज़रा खड़ी हो। मैं तेरी ठुड्ढी के नीचे, उससे दो अंगुल के फ़ासले पर, हाथ जोड़कर घुटनों पर, बैठता हूँ। दाढ़ी तेरी कन्याकुमारी-हा-हा-हा-हा!—और मेरे जुड़े, ज़रा तिरछे, हाथ सिलोन—लंका। हा-हा-हा-हा!—बोल, भारत-माता की जय।"

"सब लड़के ठहाका लगाकर हँसने लगे। वह घुटने टेककर, हाथ जोड़कर, मेरे पाँव के पास बैठ गया। मैं हक्की-बक्की-सी हँसनेवालों का मुँह निहारने लगी। बाबू, वे सभी बच्चे मेरे 'लाल' हैं, सभी मुझे 'माँ'—गाकर कहते हैं।"

उसकी सरलता मेरी आँखों में आँसू बनकर छा गयी। मैंने पूछा—"लाल की माँ! और भी वे कुछ बातें करते हैं? लड़ने की, झगड़ने की, गोला, गोली या बन्दूक की?"

"अरे बाबू"—उसने मुस्कुराकर कहा—"वे सभी बातें करते हैं। उनकी बातों का कोई मतलब थोड़े ही होता है। सब जवान हैं, लापरवाह हैं, जो मुँह में आता है, बकते हैं। कभी-कभी तो पागलों-सी बातें करते हैं। महीना भर पहले एक दिन लड़के बहुत उत्तेजित थे। वे जब बैठक में बैठकर गलचौर करने लगते हैं, तब कभी-कभी उनका पागलपन सुनने के लोभ से, मैं दरवाज़े से सट और छिपकर खड़ी हो जाती हूँ।

"न जाने कहाँ, लड़कों को सरकार पकड़ रही है। मालूम नहीं, पकड़ती भी है या वे यों ही गप हाँकते थे। मगर उस दिन वे यही बक रहे थे। कहते थे—पुलिसवाले केवल सन्देह पर भले आदमियों के बच्चों को त्रास देते हैं, मारते हैं, सताते हैं। यह अत्याचारी पुलिस की नीचता है। ऐसी नीच शासन-प्रणाली को स्वीकार करना, अपने धर्म को, कर्म को, आत्मा को, परमात्मा को भुलाना है—धीरे-धीरे घुलाना, मिटाना है।

"एक ने, उत्तेजित भाव से कहा—'अजी, ये परदेशी कौन लगते हैं हमारे; जो हमें बरबस राज-भक्त बनाये रखने के लिए हमारी छाती पर तोप का मुँह लगाये, अड़े और खड़े हैं? उफ़! इस देश के लोगों की हिये की आँखें मुँद गयी हैं, तभी तो इतने जुल्मों पर भी आदमी आदमी से डरता है। ये लोग शरीर की रक्षा के लिए अपनी-अपनी आत्मा की चिता सँवारते फिरते हैं। नाश हो इस परतंत्रतावाद का!

"दूसरे ने कहा—लोग ज्ञानी न हो सकें, इसलिए इस सरकार ने हमारे पढ़ने-लिखने के साधनों को अज्ञान से भर रखा है। लोग वीर और स्वाधीन न हो सकें, इसलिए अपमानजनक और मनुष्यता-नीति-मर्दक क़ानून गढ़े हैं। ग़रीबों को चूसकर, सेना के नाम पर, पले हुए पशुओं को शराब से, कबाब से मोटा-ताज़ा रखती है, यह सरकार धीरे-धीरे जोंक की तरह हमारे देश का धर्म, प्राण और धन चूसती चली जा रही है; यह लुटक शासन-प्रणाली। नाश हो इस प्रणाली का! इस प्रणाली की तस्वीर—सरकार का!!

"तीसरा, वही बँगड़, बोला—सब से बुरी बात यह है, जो सरकार रोब से—'सत्तावनी'—रोब से—धाक से, धाँधली से धुआँ से; हम पर शासन करती है। यह आँखें खोलते ही; कुचल-कुचल कर, हमें दब्बू, कायर, हतवीर्य, बनाती है। और किसलिए ज़रा सोचें तो। मुट्ठी भर मनुष्यों को अरुण, वरुण और कुबेर बनाए रखने के लिए। मुट्ठी-भर मनचले सारे संसार की मनुष्यता की मिट्टी-पलीद करें, परमात्मा प्रदत्त स्वाधीनता का संहार करें—छिः! नाश हो ऐसे मनचलों का!

"ऐसे ही अंट-संट ये बातूनी बका करते हैं बाबू। जभी चार छोकरे जुड़े, तभी यही चर्चा। लाल के साथियों का मिज़ाज भी, उसी-सा, अल्हड़-बिल्हड़ मुझे मालूम पड़ता है। ये लड़के ज्यों-ज्यों पढ़ते जा रहे हैं, त्यों त्यों बकबक में बढ़ते भी जा रहे हैं।"

"यह बुरा है, लाल की माँ!" मैंने गहरी साँस ली।

४

ज़मींदारी के कुछ ज़रूरी काम से, चार-पाँच दिनों के लिए, बाहर गया था। लौटने पर, बँगले में घुसने के पूर्व, लाल के दरवाज़े पर जो नज़र पड़ी तो वहाँ एक भयानक सन्नाटा-सा नज़र आया। जैसे घर उदास हो, रोता हो।

भीतर आने पर, मेरी धर्मपत्नी मेरे सामने उदास-मुख खड़ी हो गयीं।

"तुमने सुना?"

"नहीं तो, कौन-सी बात?"

"लाल की माँ पर भयानक विपत्ति टूट पड़ी है।" मैं कुछ-कुछ समझ गया फिर भी विस्तृत विवरण जानने को उत्सुक हो उठा—"क्या हुआ? ज़रा साफ़-साफ़ बताओ।"

"वही हुआ, जिसका तुम्हें भय था। कल पुलिस की एक पलटन ने लाल का घर घेर लिया था। बारह घंटे तक तलाशी हुई! लाल, उसके बारह-पन्द्रह साथी, सभी पकड़ लिये गये हैं। सभी लड़कों के घरों की तलाशी हुई है। सब के घर से भयानक-भयानक चीज़ें निकली हैं।"

"लाल के यहाँ...?"

"उसके यहाँ भी दो पिस्तौल, बहुत से कारतूस और पत्र पाये गये हैं। सुना है, उन पर हत्या, षड़यन्त्र, सरकारी राज्य उलटने की चेष्टा आदि अपराध लगाये गये हैं।"

"हूँ" मैंने ठंढी साँस ली—"मैं तो महीनों से चिल्ला रहा था कि, यह लौंडा धोखा देगा। अब यह बूढ़ी बेचारी मरी। वह कहाँ है? तलाशी के बाद तुम्हारे पास आयी थी?"

"जानकी मेरे पास कहाँ आयी। बुलवाने पर भी कल नकार गयी। नौकर से कहलाया—पराठे बना रही हूँ, हलुवा तरकारी अभी बनाना है। नहीं तो ये बिल्हड़ बच्चे हवालात में मुरझा न जाएँगे। जेलवाले और उत्साही बच्चों की दुश्मन, यह सरकार उन्हें भूखों मार डालेंगे, मगर मेरे जीते जी यह नहीं होने का।"

"वह पागल है, भोगेगी।" मैं दुख से टूटकर चारपाई पर भहरा पड़ा। मुझे लाल के कर्मों पर घोर खेद हुआ।

इसके बाद, प्रायः—एक वर्ष तक वह मुकदमा चला। कोई भी अदालत के काग़ज़ उलटकर देख सकता है। सी० आई० डी० ने और उसके मुख सरकारी वकील ने उन लड़कों पर बड़े-बड़े दोषारोप किये। उन्होंने चारों ओर गुप्त समितियाँ स्थापित की थीं, उनके खर्चे और प्रचार के लिए डाके डाले थे, सरकारी अधिकारियों के यहाँ रात में छापा मारकर, शस्त्र एकत्र

किये थे, पलटन में उन्होंने बग़ावत फैलाने का प्रयत्न किया था। उन्होंने न जाने किस पुलिस के दारोग़ा को मारा था, और न जाने कहाँ, न जाने किस पुलिस सुपरिंटेण्डेण्ट को! ये सभी बातें सरकार की ओर से प्रमाणित की गयीं।

उधर उन लड़कों की पीठ पर कौन था? प्रायः कोई नहीं। सरकार के डर के मारे पहले तो कोई वकील ही उन्हें नहीं मिल रहा था, फिर एक बेचारा मिला भी; तो 'नहीं' का भाई। हाँ, उनकी पैरवी में सब से अधिक परेशान वह बूढ़ी रहा करती। वह सुबह शाम उन बच्चों को—लोटा, थाली, ज़ेवर आदि बेच बेचकर भोजन पहुँचाती। फिर वकीलों के यहाँ जाकर दाँत निपोरती, गिड़गिड़ाती कहती—

"सब झूठ है। न जाने कहाँ से, पुलिसवालों ने ऐसी-ऐसी चीज़ें हमारे घरों से पैदा कर दी हैं। वे लड़के केवल बातूनी हैं—हाँ, मैं भगवान् का चरण छूकर कह सकती हूँ। तुम जेल में जाकर देख आओ वकील बाबू! भला वे फूल से बच्चे हत्या कर सकते हैं?

उसका मन सूखकर काँटा हो गया, कमर झुककर धनुष-सी हो गयी आँखें निस्तेज; मगर उन बच्चों के लिए दौड़ना, हाय-हाय करना, उसने बन्द न किया। कभी-कभी सरकारी नौकर, पुलिस या वार्डर, झुँझलाकर, उसे झिड़क देते, धकिया देते। तब वह खड़ी हो जाती, छड़ी के सहारे कमर सीधी कर—"अरे, अरे! तुम कैसे जवान हो, कैसे आदमी हो। मैं तो उन भोले बच्चों के लिए दौड़ती-मरती हूँ और तुम मुझे धक्के दे रहे हो! मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, भैया?"

उसको अंत तक यही विश्वास रहा कि यह सब पुलिस की चालबाज़ी है! अदालत में जब दूध का दूध और पानी का पानी किया जाएगा, तब वे बच्चे ज़रूर बे-दाग़ छूट जाएँगे। वे फिर उसके घर में लाल के साथ आएँगे। हा-हा—हो-हो करेंगे। उसे 'माँ' कहकर पुकारेंगे।

मगर, उस दिन उसकी कमर टूट गयी, जिस दिन ऊँची अदालत ने भी लाल को, उस बँगड़ लठैत को तथा दो और लड़कों को फाँसी और दस को दस वर्ष से सात वर्ष तक की कड़ी सज़ाएँ दीं।

वह अदालत के बाहर झुकी खड़ी थी। बच्चे बेड़ियाँ बजाते, मस्ती से झूमते, बाहर आये। सबसे पहले उस बँगड़ की नज़र उसपर पड़ी—

"माँ!" वह मुस्कुराया—"अरे, हमें तो हलुवा खिला-खिलाकर तूने गधे-सा तगड़ा कर दिया है ऐसा कि फाँसी की रस्सी टूट जाय और हम अमर के अमर बने रहें। मगर तू स्वयं सूखकर काँटा हो गयी है! क्यों पगली—तेरे लिए घर में खाना नहीं है क्या?—"

"माँ" उसके लाल ने कहा—"तू भी जल्द वहीं आना, जहाँ हम लोग जा रहे हैं। यहाँ से थोड़ी देर का रास्ता है माँ! एक साँस में पहुँचेगी। वहीं, हम स्वतंत्रता से मिलेंगे। तेरी गोद में खेलेंगे। तुझे कंधे पर उठाकर इधर-से-उधर दौड़ते फिरेंगे। समझती है? वहाँ बड़ा आनंद है।"

"आएगी न माँ?" बँगड़ ने पूछा।

"आएगी न माँ?" लाल ने पूछा।

"आएगी न माँ?" फाँसी-दंड प्राप्त दो दूसरे लड़कों ने भी पूछा। और वह बकर-बकर उनका मुह ताकती रही—"तुम कहाँ जाओगे पगलो?"

जब से लाल और उसके साथी पकड़े गये, तब से शहर या मुहल्ले का कोई भी आदमी लाल की माँ से मिलने में डरता था। उसे रास्ते में देखकर जान-पहचानी बगलें झाँकने लगते। मेरा स्वयं अपार प्रेम था उस बेचारी बूढ़ी पर; मगर, मैं भी बराबर दूर ही रहा। कौन अपनी गर्दन मुसीबत में डालता, विद्रोही की माँ से संबन्ध रखकर?

उस दिन, ब्यालू करने के बाद कुछ देर के लिए पुस्तकालयवाले कमरे

में गया। वहीं, किसी महान् लेखक की कोई महान् कृति क्षण भर देखने के लालच से। मैंने मेज़िनी की एक ज़िल्द निकालकर उसे खोला। पहले ही पन्ने पर पेंसिल की लिखावट देखकर चौंका। ध्यान देने पर पता चला, लाल का वह हस्ताक्षर था। मुझे याद पड़ गयी। तीन बरस पूर्व उस पुस्तक को मुझसे माँगकर उस लड़के ने पढ़ा था।

एक बार मेरे मन में बड़ा मोह उत्पन्न हुआ, उस लड़के के लिए। उसके वफ़ादार पिता रामनाथ की दिव्य और स्वर्गीय तस्वीर मेरी आँखों के आगे नाच गयी। लाल की माँ पर उस पाजी के सिद्धांतों, विचारों या आचरणों के कारण जो वज्रपात हुआ था, उसकी एक ठेस मुझे भी, उसके हस्ताक्षर को देखते ही, लगी। मेरे मुँह से एक गंभीर, लाचार, दुर्बल साँस निकलकर रह गयी।

पर, दूसरे ही क्षण पुलिस सुपरिंटेण्डेंट का ध्यान आया। उसकी भूरी, डरावनी, अमानवी आँखें मेरी—आप-सुखी तो जग-सुखी—आँखों में वैसे ही चमक गयीं, जैसे उजाड़ गाँव के सिवान में कभी-कभी भुतही चिनगारी चमक जाया करती है। उसके रूखे फ़ौलादी हाथ—जिनमें लाल की तस्वीर थी—मानों मेरी गर्दन चापने लगे। मैं मेज़ पर से 'इरेज़र' (रबर) उठाकर उस पुस्तक पर से उसका नाम उधेड़ने लगा।

उसी समय मेरी पत्नी के साथ लाल की माँ वहाँ आयी। उसके हाथ में एक पत्र था।

"अरे!" मैं अपने को रोक न सका—"लाल की माँ! तुम तो बिलकुल पीली पड़ गयी हो। तुम इस तरह मेरी ओर निहारती हो, मानों कुछ देख ही नहीं हो। यह हाथ में क्या है?"

उसने, चुपचाप, पत्र मेरे हाथ में दे दिया। मैंने देखा, उस पर....जेल की मुहर थी। सज़ा सुनाने के बाद वह वहीं भेज दिया गया था, यह मुझे मालूम था।

मैं पत्र निकालकर पढ़ने लगा। वह उसकी अंतिम चिट्ठी थी। मैंने कलेजा रूखा कर, उसे ज़ोर से पढ़ दिया।

"माँ!

जिस दिन तुम्हें यह पत्र मिलेगा उसके ठीक सवेरे मैं बाल अरुण के क़िरण-पथ पर चढ़कर, उस ओर चला जाऊँगा। मैं चाहता तो अंत समय तुमसे मिल सकता था; मगर इसमें क्या फ़ायदा? मुझे विश्वास है, तुम मेरी जन्म-जन्मान्तर की जननी हो, रहोगी! मैं तुमसे दूर कहाँ जा सकता हूँ? माँ! जब तक पवन साँस लेता है, सूर्य चमकता है, समुद्र लहराता है, तब तक कौन मुझे तुम्हारी करुणामयी गोद से दूर खींच सकता है?

"दिवाकर थमा रहेगा; अरुण रथ लिये जमा रहेगा; मैं बगड़, वह-वह, सभी तेरे इंतज़ार में रहेंगे।

"हम मिले थे, मिले हैं, मिलेंगे—हाँ, माँ! तेरा—'लाल'"

काँपते हाथ से, पढ़ने के बाद पत्र को मैंने उस भयानक लिफ़ाफ़े में भर दिया। मेरी पत्नी की विकलता हिचकियों पर चढ़कर कमरे को करुणा से कँपाने लगी। मगर वह जानकी ज्यों-की-त्यों, लकड़ी पर झुकी, पूरी खुली और भावहीन आँखों से मेरी ओर देखती रही। मानो वह उस कमरे में थी ही नहीं।

क्षण भर बाद हाथ बढ़ाकर, मौन भाषा में, उसने पत्र माँगा। और फिर, बिना कुछ कहे, कमरे के—घर के—फाटक के बाहर हो गयी, ड्गुर, ड्गुर लाठी टेकती हुई।

इसके बाद शून्य-सा होकर मैं धम से कुर्सी पर गिर पड़ा। माथा चक्कर खाने लगा। उस पाजी लड़के के लिए नहीं, इस सरकार की क्रूरता के लिए भी नहीं—उस बेचारी, भोली, बूढ़ी जानकी—लाल की माँ—के लिए।

आह! वह कैसी स्तब्ध थी। उतनी स्तब्धता किसी दिन प्रकृति को मिलती, तो आँधी आ जाती! समुद्र पाता, तो बौखला उठता।

जब एक का घंटा बजा, मैं ज़रा सगबगाया। ऐसा मालूम पड़ने लगा, मानो, हरारत पैदा हो गयी है—माथे में, छाती में, रग-रग में। पत्नी ने आकर कहा—"बैठे ही रहोगे, सोओगे नहीं?" मैंने इशारे से उन्हें जाने को कहा।

फिर, मेज़िनी की ज़िल्द पर नज़र गयी। उसके ऊपर पड़े रबर पर भी। फिर, अपने सुखों की, ज़मीन्दारी की, धनिक-जीवन की और उस पुलिस अधिकारी की निर्दय, नीरस, निस्सार आँखों की स्मृति कलेजे में कम्पन कर गयी। फिर, रबर उठाकर, मैंने उस पाजी का पेंसिल-खचित नाम, पुस्तक की छाती पर से, मिटा डालना चाहा।

"माँऽऽऽऽऽऽऽ!"

मुझे सुनायी पड़ा। ऐसा लगा, गोया लाल की माँ कराह रही है। मैं रबर हाथ में लिये, दहलते दिल से, खिड़की की ओर बढ़ा, लाल के घर की ओर देखने के लिए। पर, चारों ओर अंधकार था, कुछ नहीं दिखाई पड़ा। कान लगाने पर कुछ सुनायी भी न पड़ा। मैं सोचने लगा, भ्रम होगा। वह अगर कराहती होती तो एकाध आवाज़ और अवश्य सुनायी पड़ती। वह कराहनेवाली औरत है भी नहीं। रामनाथ के मरने पर भी उस तरह नहीं घिघियायी थी जैसे साधारण स्त्रियाँ ऐसे अवसरों पर तड़पा करती हैं।

मैं पुनः उसी को सोचने लगा। वह उस नालायक के लिए क्या नहीं करती थी। खिलौने की तरह, आराध्य की तरह, उसे दुलराती और सँवारती फिरती थी, पर, आह रे छोकरे!......

"माँऽऽऽऽऽऽऽ!"

फिर वही आवाज़। ज़रूर जानकी रो रही है, वैसे ही जैसे कुर्बानी के

पूर्व गाय रोवे। ज़रूर वही विकल, व्यथित, विवश बिलख रही है। हाय री माँ, अभागिनी वैसे ही पुकार रही है, जैसे वह पाजी गाकर मचलकर, स्वर को खींचकर उसे पुकारता था।

अँधेरा धूमिल हुआ, फीका पड़ा, मिट चला, ऊषा पीली हुई, लाल हुई। अरुण रथ लेकर वहाँ—क्षितिज के उस छोर पर—आकर, पवित्र मन से, खड़ा हो गया। मुझे लाल के पत्र की याद आ गयी।

"माँऽऽऽऽऽऽऽऽऽ"

मानो, लाल पुकार रहा था; मानो, जानकी प्रतिध्वनि की तरह उसी पुकार को गा रही थी। मेरी छाती धक् धक् करने लगी। मैंने नौकर को पुकार कर कहा—

"देखो तो, लाल की माँ क्या कर रही है?"

जब वह लौटकर आया, तब मैं—एक बार पुनः मेज़ और मेज़िनी के सामने खड़ा था। हाथ में रबर लिये—उसी-उसी उद्देश्य से। उसने घबड़ाए स्वर से कहा—

"हुज़ूर, उनकी तो अजीब हालत है। घर में ताला पड़ा है और वह दरवाज़े पर पाँव पसारे, हाथ में कोई चिट्ठी लिये, मुँह खोले, मरी बैठी हैं। हाँ, सरकार! विश्वास मानिये, वह मर गयी हैं। साँस बन्द है—आँखें खुलीं।"

भावात्मक कहानियाँ

प्रसाद

वियोगी

उषादेवी मित्रा

श्री 'प्रसाद'

जन्म—१८८९ ई० | जन्म स्थान—काशी
रचना—१९११ ई० | निवास—काशी
मृत्यु—१९३७ ई० १५ नवम्बर | पेशा—व्यापार

श्री जयशंकर प्रसाद काशी के प्रतिष्ठित वैश्य परिवार में पैदा हुए। आपके पिता संपन्न व्यापारी थे। १२ साल की उम्र तक आप स्कूल में शिक्षा प्राप्त करते रहे। मगर पिता की मृत्यु से वह बीच में ही रुक गयी। फिर आपने उधर नहीं झाँका। घर पर ही आपने संस्कृत, अंग्रेज़ी, बंगला, हिन्दी आदि का अध्ययन किया जो किसी भी विश्वविद्यालय के उपाधिधारी के वास्ते ईर्ष्या की वस्तु हो सकता था। आप बड़े ही अध्ययन-शील थे। आपका प्रथम आकर्षण कविता ही के प्रति हुआ। दूकान पर बैठे रद्दी काग़ज़ पर कविता लिखते रहते। प्राचीन संस्कृत साहित्य का अध्ययन और इतिहास की गवेषणा आपका प्रिय विषय था।

काशी छोड़कर आप शायद ही कभी वाहर जाते। दूकान पर जमे रहते और साहित्यिकों की गोष्ठी घेरे रहती। यही आपका मनोरंजन था। आपका जीवन एक-रस रहा। अन्त में यक्ष्मा की बीमारी हुई और ४८ साल की अल्पायु में ही आप स्वर्ग सिधारे।

प्रसादजी गोरे, छोटे क़द के, मांसल शरीरवाले, हँस-मुख

आदमी थे। सादी पोशाक, पान से लाल अधर, चेहरे पर स्मित-हास और मितभाषण—पहली नज़र में यही बातें लोग देख पाते थे। कुछ क्षणों में, चन्द बातें करते ही आपकी सज्जनता, शील, उच्च संस्कृति और गहराई का पता भी—सूक्ष्म-दृष्टिवालों को—लग जाता था। प्रसादजी प्रसिद्धि से दूर रहनेवाले व्यक्ति थे। मुश्किल से सभा-सम्मेलनों में जाते। वे अपने में ही डूबे रहते। हृदय-सिंधु में पैठकर मति रूपी सीप से अमूल्य भाव रूपी मोती निकाल साहित्य के गले का हार पिरोते रहते।

प्रसादजी के हृदय में प्राचीनता के प्रति अगाध प्रेम और श्रद्धा भरी थी। आपने हज़ारों साल पुरानी भारतीय विचार-धारा, जीवन-दर्शन, सांस्कृतिक-विकास और वातावरण को जैसा ठीक समझा था, वैसा समझनेवाले थोड़े लोग हैं। भारत के इतिहास में वह स्वर्ण-काल ही था जब समाज ने अशोक और चन्द्रगुप्त, गौतम और महावीर, आर्यभट्ट और चाणक्य, कालिदास और पाणिनी जैसे महान व्यक्तियों को पैदा किया था। प्रसादजी उस युग में डूबे रहते थे। मानों उनका शरीर २० वीं शताब्दि में, मगर हृदय और आत्मा ईस्वी सन् के पूर्व की शताब्दियों में विहार करता रहता था। इसीलिए अपने ग्रन्थों में बड़ी आसानी से पाठकों को भी अपने साथ उस युग में ले जाते थे—जिसे आधुनिक गोरे इतिहास-कार अंधकार-युग कहते नहीं हिचकते हैं। उसी युग के इतिहास की

हड्डी पर आपने रक्त, मांस और चर्म चढ़ाकर नाटकों और गल्पों के रूप में हमारे सामने जीवित करके खड़ा कर दिया है।

प्रसादजी कला के पुजारी थे। कला के—उस कला के—जो मानवता को विकास के रास्ते पर लाकर, उसे संपूर्ण बनाकर देवत्व के द्वार पर खड़ा कर आती है। सस्ता मनोरंजन या सस्ता प्रचार उनकी कला का आदर्श कभी नहीं रहा। उनकी कला अपने महान पद से कभी च्युत नहीं हुई। आपकी रचनाओं में कल्पना, अनुभूति और तत्व—तीनों प्रचुर मात्रा में मिलते हैं।

प्रसादजी क्रम से-कवि, नाटककार, उपन्यास-रचयिता और निबन्ध-लेखक थे। आपकी प्रतिभा तीक्ष्ण, मर्मभेदिनी और व्यापक थी। आपके काव्य में हम आपका भाव व कल्पना-पक्ष देखते हैं तो नाटकों में प्राचीन संस्कृति की झलक पाते हैं। कहानियों और उपन्यासों में प्रसादजी साधारण मानव तक उतरते हैं। वहीं आपको साधारण पाठक थोड़े परिश्रम से समझ पाता है।

आपकी कहानियाँ भाव-प्रधान हैं। संख्या सौ से कम ही होगी। एक भावना को लेकर उसी को चित्रित करना, उसी पर कथा की बड़ी इमारत खड़ी कर देना आपकी टेकनीक रही है। आपके गद्य (कहानी) में भी ध्वनि-पूर्ण काव्य का मज़ा आ जाता है। आपकी कुल कहानियों में हम दो-तीन तरह का वातावरण पाते हैं।

कुछ में अति प्राचीन समाज का, तो कुछ में मध्यकालीन (राजपूत, मुगल) युग का और कुछ में खानाबदोश लोगों के परिवार का। आपकी ज्यादातर कहानियों में प्रेम ही (रोमांस) केन्द्र-बिन्दु है। वह प्रेम भी ऊँचे दर्जे का, त्याग की नींव पर स्थित।

प्राचीनता के प्रेमी प्रसादजी की भाषा के सम्बन्ध में कुछ लोग आक्षेप करते हैं। मगर समझ में नहीं आता है कि संस्कृत साहित्य के अगाध विद्वान, हिंदू संस्कृति के अनन्य भक्त और प्राचीन जीवन, आदर्श और वातावरण को अपनी कला के द्वारा सजीव बनानेवाले कलाकार प्रसादजी की भाषा संस्कृत से बोझिल हो तो उसे दोष कैसे माना जाय? या भावना की कोमलता तथा सौंदर्य की बारीकी को दिखानेवाले कवि को हम दुरूह कहकर न्याय कैसे कर सकते हैं? किसी आलोचक के शब्दों में---"प्रसादजी की रचना रोटी नहीं, हीरा है"—कहें तो ज्यादा ठीक होगा।

आपकी प्रस्तुत कहानी 'सालवती' ऐतिहासिक कहानी है। ईसा से कई शताब्दियाँ पहले, जब युरोप में 'पार्लिमेंटों की नानी' के बारे में कोई ज्योतिषी भविष्य-वाणी भी नहीं कर सकता था, और जब डिमाक्रसी (प्रजातंत्र) शब्द की उत्पत्ति की आशंका भी भाषा-विज्ञान के पंडितों को नहीं हुई थी---उस युग की यह कहानी है। फिर भी भारत वर्ष के लिए ये बातें नयी नहीं थीं। उस युग में ही वैशाली एक राज्य था, वज्जियों का राज्य था। वहाँ का

गणतंत्र शासन था। संघ और संस्थागार भी थे। व्यक्ति जनमत का ख़्याल कर बड़ा से बड़ा बलिदान करने को प्रस्तुत रहते थे—करते थे। "....वज्जियों का एक तो स्थिर सिद्धान्त है ही। अर्थात् हम लोग वज्जि संघ के सदस्य हैं। राष्ट्रनीति में हम लोगों का मतभेद तीव्र नहीं होता।"—सालवती के मुँह से निकले ये वाक्य ही इस कहानी के विचार-केन्द्र हैं। राष्ट्रहित के नाम पर एक कुलीन बालिका (सालवती) का बलिदान होता है और वह प्रजातंत्र और बहुमत की विजय के लिए उसे स्वीकार कर लेती है—अपनी आत्मा के विरुद्ध। वह वैशाली की पहली रूपाजीवा (वेश्या) बन जाती है। फिर वही प्रथा बन जाती है। हर साल अनंग पूजा के अवसर पर एक एक सुन्दरी उस श्रेणी में आती है। मगर आठ साल बाद जब सालवती अनुभव करती है, और लोग भी अनुभव करते हैं कि यह प्रथा बड़ी अनर्थकारी है, इससे राष्ट्र का पतन सुनिश्चित है तो फिर सुन्दरियों की वही रानी सालवती, संघ से प्रार्थना करती है कि वह प्रथा उठा दी जाय। संघ उसकी प्रार्थना मान लेता है। उस साल की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी का चुनाव रुक जाता है—जो स्थान सालवती को ही मिलनेवाला था। मगर इन शील-खंडिता नौ कुमारियों या कुलटाओं का क्या हो? क्या उन्हें अपने भाग्य को रोने दिया जाय—जिन्होंने संघ के निश्चय पर अपना बलिदान किया था? नहीं। उन नौ कुमारियों को उच्च कुल के नौ

युवक वरण कर लेते हैं। वेश्या प्रथा का अन्त हो जाता है और यह सब होता है राष्ट्रहित के वास्ते, बहुमत—जन मत की आज्ञा से।

कहानी के नायक अभयकुमार और खलनायक मगध-मंत्री का चित्रण देखकर अचरज होता है। सारी कहानी एक ऐतिहासिक फिल्म की तरह सब तरह से चुस्त और सुन्दर बन पड़ी है।

आपकी रचनाएँ—

काव्य—प्रेम-पथिक, करुणालय, काननकुसुम, महाराणा का महत्व, लहर, आँसू, कामायनी (महाकाव्य)

उपन्यास—कंकाल, तितली, इरावती।

नाटक—चन्द्रगुप्त, अजात-शत्रु, स्कंदगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, राज्यश्री, एक घूँट, जनमेजय का नागयज्ञ, विशाख, कामना।

कहानी-संग्रह—प्रतिध्वनि, आकाशदीप, आंधी, छाया, इन्द्रजाल।

मिश्र—चित्राधार।

निबंध—काव्य और कला।



सालवती

सदानीरा अपनी गंभीर गति से, उस घने साल के जंगल से कतरा कर चली जा रही है। सालों की श्यामल छाया उसके जल को और भी नीला बना रही है; परन्तु वह इस छायादान को अपनी छोटी-छोटी वीचियों से मुसकुराकर टाल देती है। उसे तो ज्योत्स्ना से खेलना है। चैत की मतवाली चाँदनी परिमल से लदी थी। उसके वैभव की यह उदारता थी कि उसकी कुछ किरणों को जंगल के किनारे की फूस की झोंपड़ी पर भी बिखरना पड़ा।

उसी झोंपड़ी के बाहर नदी के जल को पैर से छूती हुई एक युवती चुपचाप बैठी आकाश के दूरवर्ती नक्षत्रों को देख रही थी। उसके पास ही सत्तू का पिंड रक्खा था। भीतर से दुर्बल कंठ से किसी ने पुकारा—'बेटी!'

परन्तु युवती तो आज एक अद्‍भुत गौरव—नारी जीवन की सार्थकता—देखकर आयी है। पुष्करिणी के भीतर से कुछ मिट्टी रात में ढोकर बाहर

फेंकने का पारिश्रमिक चुकाने के लिए, रत्नाभरणों से लदी हुई एक महालक्ष्मी बैठी थी। उसने पारिश्रमिक देते हुए पूछा—'बहन! तुम कहाँ रहती हो? कल फिर आना।' उन शब्दों में कितना स्नेह था। वह महत्व—क्या इन नक्षत्रों से भी दूर की वस्तु नहीं? विशेषतः उसके लिए—वह तल्लीन थी। भीतर से फिर पुकार हुई।

'बेटी!—सालवती!— रात को नहा मत! सुनती नहीं।—बेटी!'

'पिताजी।' सालवती की तंद्रा टूटी। वह उठ खड़ी हुई। उसने देखा कि वृद्ध छड़ी टेकता हुआ झोंपड़ी के बाहर आ रहा है। वृद्ध ने सालवती की पीठ पर हाथ रखकर उसके बालों को टटोला। वे रूखे थे। वृद्ध ने संतोष की साँस लेकर कहा—'अच्छा है बेटी! तूने स्नान नहीं किया न! मैं तनिक सो गया था। आज तू कहाँ चली गयी थी? अरे! रात तो प्रहर से अधिक बीत चुकी। बेटी! तूने आज कुछ भोजन नहीं बनाया?'

'पिता जी!' आज मैं नगर की ओर चली गयी थी। वहाँ पुष्करिणी बन रही है, उसी को देखने।'

'तभी तो बेटी! तुझे विलंब हो गया? अच्छा तो फिर बना ले कुछ। मुझे भी भूख लगी है। ज्वर तो अब नहीं है। थोड़ा-सा मूँग का सूप— हाँ रे! मूँग तो नहीं है! अरे यह क्या है रे?'

'पिता जी! मैंने भी पुष्करिणी में से कुछ मिट्टी निकाली है। उसी का यह पारिश्रमिक है। मैं मूँग लेने ही तो गयी थी; परन्तु पुष्करिणी देखने की धुन में उसे लेना भूल गयी।'

'भूल गयी न बेटी! अच्छा हुआ; पर तूने यह क्या किया? वज्जियों के कुल में किसी बालिका ने आज तक—अरे—यह तो लज्जापिंड है! बेटी! इसे मैं न खा सकूँगा। किसी कुलपुत्र के लिए इससे बढ़कर अपमान की और कोई वस्तु नहीं। इसे फोड़ तो!'

सालवती ने उसे पटक कर तोड़ दिया। पिंड टूटते ही वैशाली की मुद्रा से अंकित एक स्वर्णखंड उसमें से निकल पड़ा। सालवती का मुँह खिल उठा; किन्तु वृद्ध ने कहा—'बेटी! उसे सदानीरा में फेंक दे।' सालवती विषाद से भरी उस स्वर्णखंड को हाथ में लिए खड़ी रही।

वृद्ध ने कहा—'पागल लड़की! आज उपवास न करना होगा। तेरे मिट्टी ढोने का उचित पारिश्रमिक केवल यह सत्तू है। वह स्वर्ण का चमकीला टुकड़ा नहीं।'

'पिता जी! फिर आप।'

'मैं—? आज रात को भी ज्वर का लंघन समझूँगा! जा यह सत्तू खाकर सदानीरा का जल पीकर सो रह!

'पिता जी! मैं भी आज की रात बिना खाये बिता सकती हूँ, परन्तु मेरा एक संदेह..........'

'पहले उसको फेंक दे, तब मुझसे कुछ पूछ!'

सालवती ने उसे फेंक दिया। तब एक निःश्वास छोड़कर बूढ़े ने कहना आरंभ किया।

'आर्यों का दल, जो माधव के साथ ज्ञान की अग्नि मुँह में रखकर सदानीरा के इस पार पहले-पहल आया, विचारों की स्वतंत्रता का समर्थक था। कर्मकांडियों की महत्ता और उनकी पाखंड-प्रियता का विरोधी वह दल, सब प्रकार की मानसिक या नैतिक पराधीनता का कट्टर शत्रु था।

'जीवन पर उसने नये ढंग से विचार करना आरंभ किया। धर्म का ढोंग उसके लिए कुछ अर्थ नहीं रखता था। वह आर्यों का दल दार्शनिक था। उसने मनुष्यों की स्वतंत्रता का मूल्य चारों ओर से आँकना चाहा। और आज गंगा के उत्तरी तट पर विदेह, वज्जि, लिच्छवि और मल्लों का जो गणतंत्र अपनी ख्याति में गर्वोन्नत है वह उन्हीं पूर्वजों की कीर्तिलेखा है।

'मैं भी उन्हीं का कुलपुत्र हूँ। मैंने भी तीर्थंकरों के मुख से आत्मवाद-अनात्मवाद के व्याख्यान सुने हैं। संघों के शास्त्रार्थ कराये हैं। उनको चातुर्मास कराया है। मैं भी दार्शनिकों में प्रसिद्ध था। बेटी! तू उसी धवलयश की दुहिता होकर किसी की दया पर अपना जीवन-निर्वाह करे, यह मैं नहीं सहन कर सकता।

'बेटी, गणराज्य में जिन लोगों के पास प्रभूत धन है, उन लोगों ने निर्धन कुलीनों के निर्वाह के लिए गुप्त दान की प्रथा चलायी है कि अँधेरे में किसी से थोड़ा काम कराकर उसे कुछ स्वर्ण दे दिया जाय। क्या यह अनुग्रह नहीं है बेटी?'

'है तो पिता जी।'

'फिर यह कृतज्ञता और दया का भार तू उठावेगी। वही हम लोगों की संतान जिन्होंने देवताओं और स्वर्ग का भी तिरस्कार किया था, मनुष्य की पूर्णता और समता का मंगल-घोष किया था, उसी की संतान अनुग्रह का आश्रय ले?'

'नहीं पिता जी! मैं अनुग्रह न चाहूँगी।'

'तू मेरी प्यारी बेटी है। जानती है बेटी! मैंने दार्शनिकवादों में सर्वस्व उड़ाकर अपना कौन-सा सिद्धान्त स्थिर किया है?

'नहीं पिता जी!'

आर्थिक पराधीनता ही संसार में दुख का कारण है। मनुष्य को उससे मुक्ति पानी चाहिए, इसलिए मेरा उपास्य है स्वर्ण।'

'किन्तु आपका देवता कहाँ है?'

वृद्ध ठठाकर हँस पड़ा। उसने कहा—'मेरा उपास्य मेरी झोंपड़ी में है, इस सदानीरा में है; और है मेरे परिश्रम में।'

सालवती चकित होकर देखने लगी।

वृद्ध ने कहा—'चौंक मत बेटी! मैं हिरण्यगर्भ का उपासक हूँ। देख सदानीरा की शिलाओं में स्वर्ण की प्रचुर मात्रा है।'

'तो क्या पिता जी! तुमने इसलिए इन काले पत्थरों से झोंपड़ी भर रखी है?' सालवती ने उत्साह से कहा।

वृद्ध ने सिर हिलाते हुए फिर अपनी झोंपड़ी में प्रवेश किया। और सालवती! उसने घूमकर लज्जापिंड को देखा भी नहीं। वह दरिद्रता का प्रसाद यों ही बिखरा पड़ा रहा। सालवती की आँखों के सामने चन्द्रमा सुनहरा होकर सदानीरा की जलधारा को स्वर्णमयी बनाने लगा। साल के एकान्त कानन से मरमर की ध्वनि उठती थी। सदानीरा की लहरें पुलिन से टकराकर गंभीर कलनाद कर रही थीं, किन्तु वह लावण्यमयी युवती अचेतन अवस्था में चुपचाप बैठी हुई वज्जियों की—विदेहों की—अद्भुत स्वतंत्रता पर विचार कर रही थी। उसने झुँझला कर कहा—'ठीक! मैं अनुग्रह नहीं चाहती। अनुग्रह लेने से मनुष्य कृतज्ञ होता है। कृतज्ञता परतंत्र बनाती है।'

लज्जापिंड से मछलियों की उदरपूर्ति कराकर वह भूखी ही जाकर सो रही।

*   *   *   *

दूसरे दिन से वृद्ध शिलाखंडों से स्वर्ण निकालता और सालवती उसे बेचकर आवश्यकता की पूर्ति करती। उसके साल-कानन में चहल-पहल रहती। अतिथि, आजीवक और अभ्यागत आते, आदर-सत्कार पाते, परन्तु यह कोई न जान सका कि यह सब होता कहाँ से ह। वैशाली में धूम मच गयी। कुतूहल से कुलपुत्र चंचल हुए। परन्तु एक दिन धवलयश अपनी गरिमा में हँसता हुआ संसार से उठ गया।

सालवती अकेली रह गयी। उसे स्वर्ण का उद्गम मालूम था। वह

अपनी जीवनचर्या में स्वतंत्र बनी रही। उसका रूप और यौवन मानसिक स्वतंत्रता के साथ सदानीरा की धारा की तरह वेग-पूर्ण था।

*　　*　　*　　*

वसन्त की मंजरियों से पराग बरसने लगा। किसलय के कर-पल्लव से युवकों को आमन्त्रण मिला। वैशाली के स्वतन्त्र नागरिक आमोद-प्रमोद के लिए उन्मत्त हो उठे। अशोक के लाल स्तवकों में मधुपों का मादक गुंजार नगर-प्रान्त को संगीतमय बना रहा था। तब कलशों में आसव लिए दासों के वृन्द, वसन्त कुसुमालंकृता युवतियों के दल, कुलपुत्रों के साथ वसन्तोत्सव के लिए वनों उपवनों में फैल गये।

कुछ मनचले उस दूरवर्ती साल-कानन में भी पहुँचे। सदानीरा के तट पर साल की निर्जन छाया में उनकी गोष्ठी जमी। इस दल में अन्य लोगों की अपेक्षा एक विशेषता थी कि इनके साथ कोई स्त्री न थी।

दासों ने आसन बिछा दिये। खाने-पीने की सामग्री रख दी गयी। ये लोग संभ्रान्त कुलपुत्र थे। कुछ गंभीर विचारक से वे युवक देव-गन्धर्व की तरह रूपवान थे। लंबी-चौड़ी हड्डियोंवाले व्यायाम से सुन्दर शरीर पर दो एक आभूषण और काशी के बने हुए बहुमूल्य उत्तरीय, रत्न-जटित कटिबंध में कृपाण। लच्छेदार बालों के ऊपर सुनहरे पतले पट्टबंध और वसंतोत्सव के प्रधान चिह्न-स्वरूप दूर्वा और मधूक-पुष्पों की सुरचित मालिका। उनके मांसल भुजदंड, कुछ-कुछ आसव-पान से अरुण नेत्र, तांबूल-रंजित सुन्दर अधर, उस काल के भारतीय शारीरिक सौन्दर्य के आदर्श प्रतिनिधि थे।

वे बोलने के पहले थोड़ा मुसकुराते, फिर मधुर शब्दों में अपने भावों को अभिव्यक्त करते थे। गिनती में वे आठ थे। उनके रथ दूर खड़े थे। दासों ने आवश्यक वस्तु सजाकर रथों के समीप आश्रय लिया। कुलपुत्रों का पान, भोजन और विनोद चला।

एक ने कहा—'भद्र ! अभिनन्द ! अपनी वीणा सुनाओ।'

दूसरों ने भी इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया। अभिनन्द के संकेत पर दास ने उसकी वीणा सामने लाकर रख दी। अभिनन्द बजाने लगा। सब आनन्दमग्न होकर सुनने लगे।

अभिनन्द ने एक विश्राम लिया। लोगों ने 'साधु-साधु' कहकर उसे अभिनन्दित किया। सहसा अश्वों के पद-शब्द सुनाई पड़े।

सिन्धु देश के दो धवल अश्वों पर जिनके स्वर्णालंकार चमक रहे थे, चामर हिल रहे थे, पैरों में झाँझें मधुर शब्द कर रही थीं; दो उच्च पदाधिकारी माननीय व्यक्तियों ने वहाँ पहुँच कर उस गोष्ठी के लोगों को चंचल कर दिया।

उनके साथ के अन्य अश्वारोही रथों के समीप ही खड़े रहे; किन्तु वे दोनों गोष्ठी के समीप आ गये।

कुलपुत्रों ने एक को पहचाना। वह था उपराजा अभयकुमार। उन लोगों ने उठकर स्वागत और नमस्कार किया।

उपराजा ने अश्व पर से ही पूछा—'कुलपुत्रों की शुभ-कामना करते हुए मैं पूछ सकता हूँ, कि क्या कुलपुत्रों की प्रसन्नता इसी में है, कि वे लोग अन्य नागरिकों से अलग अपने वसन्तोत्सव का आनन्द आप ही लें?'

'उपराजा के हम कृतज्ञ हैं। हम लोगों की गोष्ठी को वे प्रसन्नता से सुशोभित कर सकते हैं। हम लोग अनुगृहीत होंगे।'

'किंतु मेरे साथ एक माननीय अतिथि हैं। पहले इनका परिचय करा दूँ?

'बड़ी कृपा होगी।'

'ये हैं मगधराज के महामन्त्री ! वैशाली का वसन्तोत्सव देखने आये हैं।'

कुलपुत्रों ने मन में सोचा—महामन्त्री चतुर हैं। रथ पर न चढ़कर अश्व

की वल्गा उसने अपने हाथ में रखली है। विनय के साथ कुलपुत्रों ने दोनों अतिथियों को घोड़ों से उतरने में सहायता दी। दासों ने दोनों अश्वों को रथ के समीप पहुँचाया और वैशाली के उपराजा तथा मगध के महामन्त्री कुलपुत्रों के अतिथि हुए।

महामन्त्री गूढ़ राजनीतिज्ञ था। वह किसी विशेष सिद्धि के लिए वैशाली आया था। वह संस्थागार के राजकों की मनोवृत्ति का गंभीर अध्ययन कर रहा था। उनकी एक-एक बातों, आचरणों और विनयों को वह तीव्र दृष्टि से देखता। उसने पूछा—'कुलपुत्रों से मैं एक बात पूछूँ, यदि वे मुझे, प्रसन्नता से ऐसी आज्ञा दें?'

अभिनन्द ने कहा—'अपने माननीय अतिथि को यदि हम लोग प्रसन्न कर सकें, तो अनुगृहीत होंगे।

'वैशाली के ७७०७ राजकों में आप लोग भी हैं। फिर आपके उत्सव में वैराग्य क्यों? अन्य नागरिकों से आप लोगों का उत्सव विभिन्न क्यों है? आपकी गोष्ठी में ललनाएँ नहीं? वह उल्लास नहीं, परिहास नहीं, आनन्द-उमंग नहीं। सब से दूर, अलग, संगीत आपानक से शून्य आपकी गोष्ठी विलक्षण है।'

अभयकुमार ने सोचा कि कुलपुत्र इस प्रश्न को अपमान न समझ लें, कहीं कड़वा उत्तर न दे दें। उसने कहा—'महामन्त्री यह जानकर प्रसन्न होंगे, कि वैशाली गणतन्त्र के कुलपुत्र अपनी विशेषताओं और व्यक्तित्व को सदैव स्वतंत्र रखते हैं।

अभिनन्द ने कहा—'और भी एक बात है। हम लोग आठ स्वतंत्र तीर्थंकरों के अनुयायी हैं और परस्पर मित्र हैं। हम लोगों ने साधारण नागरिकों से असमान उत्सव मनाने का निश्चय किया था। मैं तो तीर्थंकर पूरण काश्यप के सिद्धान्त अक्रियवाद को मानता हूँ। यज्ञ आदि कर्मों में न पुण्य है, न पाप। मनुष्य को इन पचड़ों में न पड़ना चाहिए।'

दूसरे ने कहा—'आर्य, मेरा नाम सुभद्र है। मैं यह मानता हूँ कि मृत्यु के साथ ही सब झगड़ों का अन्त हो जाता है।'

तीसरे ने कहा—'मेरा नाम वसन्तक है। मैं संजय बेलठिपुत्त का अनुयायी हूँ। जीवन में हम उन्हीं बातों को जानते हैं, जिनका प्रत्यक्ष संबंध हमारे संवेदनों से है। हम किसी अनुभवातीत वस्तु को नहीं जान सकते।'

चौथे ने कहा—'मेरा नाम मणिकंठ है। मैं तीर्थंकर प्रकुध कात्यायन का अनुगत हूँ। मैं समझता हूँ, कि मनुष्य कोई सुनिश्चित वस्तु को ग्रहण नहीं कर सकता। कोई सिद्धान्त स्थिर नहीं कर सकता।'

पाँचवें ने कहा—'मैं आनन्द हूँ आर्य! तीर्थंकर मस्करी गोशाल के नियतिवाद में मेरा पूर्ण विश्वास है। मनुष्य में कर्म करने की स्वतंत्रता नहीं। उसके लिए जो कुछ होना है वह होकर ही रहेगा। वह अपनी ही गति से गन्तव्य स्थान तक पहुँच जायगा।'

छठे ने कहा—मैं, तीर्थंकर नाथपुत्र का अन्तेवासी हूँ। मैं कहता हूँ, कि वस्तु है भी, नहीं भी है। दोनों हो सकती हैं।'

सातवें ने कहा—'मैं तीर्थंकर गौतम का अनुयायी सुमंगल हूँ; किसी वास्तविक सत्ता में विश्वास ही नहीं करता। आत्मन् जैसा कोई पदार्थ ही नहीं है।

आठवें ने किंचित् मुसकुराकर कहा—'आर्य! मैं मैत्रायण विदेहों के सुनिश्चित आत्मवाद का माननेवाला हूँ। ये जितनी भावनाएँ हैं, सब का उद्गम आत्मन् ही है।'

अभिनन्द ने कहा—'तब हम लोगों की विलक्षणता पर महामन्त्री को आश्चर्य होना स्वाभाविक है।'

अभयकुमार कुछ प्रकृतिस्थ हो रहा था। उसने देखा कि महामन्त्री बड़े

कुतूहल और मनोनिवेश से कुलपुत्रों का परिचय सुन रहा है। महामन्त्री ने कुछ व्यंग्य से कहा—'आश्चर्य है! माननीय कुलपुत्रों ने अपने विभिन्न विचारों का परिचय देकर मुझे तो चकित कर दिया है। तब आप लोगों का कोई एक मन्तव्य नहीं हो सकता।'

'क्यों नहीं; वज्जियों का तो स्थिर सिद्धान्त है ही। अर्थात् हम लोग वज्जिसंघ के सदस्य हैं। राष्ट्रनीति में हम लोगों का मतभेद तीव्र नहीं होता।'—कुलपुत्रों को चुप देखकर किसी ने साल के अन्तराल से सुकोमल कंठ से यह कहा और नदी की ओर चली गयी।

उन लोगों की आँखें उधर उस कहनेवाले को खोज रही थीं कि सामने से कलश लिये हुए सालवती सदानीरा का जल भरने के लिए आती दिखलायी पड़ी।

मगध के महामन्त्री को उस रूपलावण्यमयी युवती का यह उत्तर थप्पड़ सा लगा। उसने कहा—'अद्भुत!'

प्रसन्नता से महामन्त्री की विमूढ़ता का आनन्द लेते हुए अभयकुमार ने कहा—'आश्चर्य कैसा आर्य?'

'ऐसा सौंदर्य तो मगध में मैंने कोई देखा ही नहीं। वज्जियों का संघ सब विभूतियों से संपन्न है। अंबापाली, जिसके रूप पर हम लोगों को गर्व है, इस लावण्य के सामने तुच्छ है। और इसकी वाक्-पटुता भी......।'

'किन्तु मैंने सुना है कि अंबापाली वेश्या है। और यह तो?' इतना कहकर अभयकुमार रुक-सा गया।

महामन्त्री ने गंभीरता से कहा—'तब यह भी कोई कुल-वधू होगी! मुझे क्षमा कीजिए।'

'यह तो पूछने से मालूम होगा।'

क्षण भर के लिए सब चुप हो गये थे। सालवती अपना पूर्ण घट लेकर करारे पर चढ़ रही थी। अभिनन्द ने कहा—'कल्याणी! हम लोग आपका परिचय पाने के लिए उत्सुक हैं।'

'स्वर्गीय कुलपुत्र आर्य धवलयश की दुहिता सालवती के परिचय में कोई विचित्रता नहीं है।' सालवती ने गंभीरता से कहा—वह दुर्बल कटि पर पूर्ण कलश लिये कुछ रुक-सी गयी थी।

मैत्रायण ने कहा—'धन्य है कुलपुत्रों का वंश! आज हम लोगों का प्रतिनिधि बनकर जो उचित उत्तर आपने मगध के माननीय महामंत्री को दिया है, वह कुलीनता के अनुरूप ही है। हम लोगों का साधुवाद ग्रहण कीजिए।'

'क्या कहूँ आर्य! मैं उतनी संपन्न नहीं हूँ कि आप जैसे माननीय अतिथियों का स्वागत-सत्कार कर सकूँ। फिर भी जल-फल-फूल से मैं दरिद्र भी नहीं। मेरे सालकानन में आने के लिए मैं आप लोगों का हार्दिक स्वागत करती हूँ। जो आज्ञा हो, मैं सेवा करूँ।'

शुभे, हम लोगों को किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं। हम लोग आपकी उदारता के लिए कृतज्ञ हैं।' अभिनन्द ने कहा।

'किन्तु मैं एक प्रार्थना करूँगा।' महामंत्री ने सविनय कहा।

'आज्ञा दीजिये।'

'यदि आप अन्यथा न समझें।'

'कहिये भी।'

'अभिनन्द के हाथ में वीणा है! एक सुन्दर अलाप की पूर्ति कैसे होगी?' धृष्ट महामंत्री ने कहा।

'मुझे तो संगीत की वैसी शिक्षा नहीं मिली जिससे आप प्रसन्न हों। फिर भी कलश रखकर आती हूँ।' निस्संकोच भाव से कहकर सालवती चली गयी। सब चकित थे।

बेत से बुनी हुई डाली में थोड़े-से फल लिये हुए सालवती आयी और आसन के एक भाग में वह बैठ गयी। कुलपुत्रों ने फल चखे और थोड़ी मात्रा में आसव भी। अब अभिनन्द ने वीणा उठा ली। अभयकुमार प्यासी आँखों से उस सौंदर्य को देख रहा था। सालवती ने अपने गोत्र की छाप से अंकित अपने पिता से सीखा हुआ पद मधुर स्वर से गाना आरंभ किया। श्रोता मुग्ध थे। उस संगीत का विषय था—जंगल, उसमें विचरने की प्राकृतिक स्वतंत्रता। वह अकृत्रिम संगीत किसी डाल पर बैठी हुई कोकिल के गान से भी विलक्षण था। सब मुग्ध थे। संगीत समाप्त हुआ, किन्तु उसका स्वरमंडल अभी उस प्रदेश को अपनी माया से आच्छन्न किये था। सालवती उठ खड़ी हुई। अभयकुमार ने एक क्षण में अपने गले से मुक्ता की एकावली निकालकर अंजलि में ले ली और कहा—'देवि, यह उपहार है।' सालवती ने गंभीर भाव से सिर झुकाकर कहा—'बड़ी कृपा है; किन्तु मैं किसी के अनुग्रह का दान नहीं ग्रहण करती।' और वह चली भी गयी।

सब लोगों ने आश्चर्य से एक दूसरे को देखा।

* * * *

अभयकुमार को उस रात्रि में निद्रा नहीं आयी। वह सालवती का चित्र अपनी पुतलियों पर बनाता रहा। प्रणय का जीवन अपने छोटे-छोटे क्षणों में भी बहुत दीर्घजीवी होता है। रात किसी तरह कटी। अभयकुमार वास्तव में कुमार था और था वैशाली का उपराजा। नगर के उत्सव का प्रबन्ध उसी के हाथ में था। दूसरा प्रभात अपनी तृष्णा में लाल हो रहा था। अभय के हृदय में निदारुण अपमान भी चुभ रहा था और चुभ रहा था, उन दार्शनिक कुल-

पुत्रों का सव्यंग्य परिहास, जो सालवती के अनुग्रह न लेने पर उसकी स्वतंत्रता की विजय समझकर और भी तीव्र हो उठा था।

* * * *

उन कुलपुत्रों की गोष्ठी उसी साल-कानन में जमी रही। अभी उन लोगों ने स्नान आदि से निवृत्त होकर भोजन भी नहीं किया था कि दूर से तूर्य्यनाद सुनायी पड़ा। साथ में एक राजपुरुष उच्चकंठ से पुकारता था—

'आज अनंग-पूजा के लिए वज्जियों के संघ में से सब से सुंदरी कुमारी चुनी जायगी। जिसको चुनाव में आना हो, संस्थागार में एक प्रहर के भीतर आ जाय।'

अभिनन्द उछल पड़ा। उसने कहा—'मैत्रायण! सालवती को लिवा ले चलना चाहिए। ऐसा न हो कि वैशाली के सब से उत्तम सौंदर्य का अपमान हो जाय।'

'किन्तु वह अभिमानिनी चलेगी?'

'यही तो विकट प्रश्न है!'

'हम सब चलकर प्रार्थना करें।'

'तो चलो।'

'सब अपना दुकूल सँभालते हुए सालवती की झोंपड़ी की ओर चल पड़े। सालवती अपना नियमित भोज्य, चावल बना रही थी। उसके पास थोड़ा दूध और फल रक्खा था। उसने इन लोगों को आते देखकर सहज प्रसन्नता से मुस्कुराकर कहा—'स्वागत! माननीय कुलपुत्रों को आतिथ्य ग्रहण करने के लिए मैं निमन्त्रित करती हूँ।' उसने एक शुभ्र कंबल बिछा दिया।

युवकों ने बैठते हुए कहा—

'किन्तु हम लोग भी एक निमन्त्रण देने आये हैं?'

सालवती कुछ सोचने लगी।

'हम लोगों की प्रार्थना अनुचित न होगी।' आनन्द ने कहा।

'कहिये।'

'वैशाली के नागरिकों ने एक नया निर्णय किया है कि इस बार वसन्तोत्सव की अनंग-पूजा वज्जि राष्ट्र की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी के हाथों से कराई जाय। इसके लिए संस्थागार में चुनाव होगा।'

'तो इसमें क्या मैं परिवर्तन करा सकती हूँ?' सालवती ने सरलता से पूछा।

'नहीं शुभे! आपको भी इसमें भाग लेना होगा। हम लोग आपको संस्थागार में ले चलेंगे, और पूर्ण विश्वास है कि हम लोगों का पक्ष विजयी होगा।'

'किन्तु क्या आप लोगों का यह मुझ पर अनुग्रह न होगा, जिसे मैं कदापि न ग्रहण करूँगी।'

'नहीं' भद्रे! यदि मेरे प्रस्ताव को बहुमत मिला, तो क्या हम लोगों की विजय न होगी और तब क्या हमीं लोग आपके अनुगृहीत न होंगे।'

सालवती कुछ चुप-सी हो गयी।

मैत्रायण ने फिर कहा—'विचारों की स्वतंत्रता इसी में है कि वे स्पष्ट-रूप से प्रचारित किये जायँ, न कि वे सत्य होते हुए भी दबा दिये जायँ।'

सालवती इस सम्मान से अपने हृदय को अछूता न रख सकी। स्त्री के लिए उसके सौन्दर्य की प्रशंसा? कितनी बड़ी विजय है। उसने व्रीड़ा से कहा—'तो क्या मुझे चलना ही होगा?'

'यह हम लोगों के लिए अत्यन्त प्रिय सन्देश है। आनन्द, तुम क्यों

को यहीं ले आओ, और मैं समझता हूँ कि सौन्दर्यलक्ष्मी तुम्हारे रथ पर ही चलेगी। तुम होगे उस रथ के सारथि।'

आनन्द सुनते ही उछल पड़ा। उसने कहा—'एक बात और भी—।'

सालवती ने प्रश्न करनेवाली आँखों से देखा।

आनन्द ने कहा—'सौन्दर्य का प्रसाधन !'

'मुझे कुछ नहीं चाहिए। मैं यों ही चलूँगी। और कुलपुत्रों के निर्णय की मैं भी परीक्षा करूँगी। कहीं वे भ्रम में तो नहीं हैं।'

थोड़ा जलपान करके सब लोग प्रस्तुत हो गये। तब सालवती ने कहा—'आप लोग चलें, मैं अभी आती हूँ।'

कुलपुत्र चले गये।

सालवती ने एक नवीन कौशेय पहना, जूड़े में फूलों की माला लगायी और रथ के समीप जा पहुँची।

सारथी को हटाकर आनन्द अपना रथ स्वयं हाँकने लगा। उस पर बैठी थी सालवती। उसके पीछे कुलपुत्रों के सात रथ थे। जब वे संस्थागार के राजपथ पर अग्रसर हो रहे थे तब भीड़ में आनन्द और आश्चर्य के शब्द सुनायी पड़े, सुन्दरियों का मुख अवनत हुआ। इन कुलपुत्रों को देखकर राजा ने पूछा—'मेरे माननीय दार्शनिक कुलपुत्रों ने यह रत्न कहाँ पाया ?'

'कल्याणी सालवती कुलपुत्र धवलयश की एकमात्र दुहिता है।'

'मुझे आश्चर्य है कि किसी कुलपुत्र ने अब तक इस कन्यारत्न के परिणय की प्रार्थना क्यों नहीं की ? अच्छा तो क्या मत लेने की आवश्यकता है ?' राजा ने गंभीर स्वर से पूछा।

'नहीं, नहीं, सालवती वज्जिराष्ट्र की सर्वश्रेष्ठ कुमारी सुन्दरी है।' जनता का तुमुल शब्द सुनायी पड़ा।

राजा तीन बार इसी तरह प्रश्न किया। सब का उत्तर वही था। सालवती निर्विवाद विजयिनी हुई। तब अभयकुमार के संकेत पर पचीसों दास थालों में रत्नों के अलंकार, काशी के बहुमूल्य कौशेय, अंगराग, तांबूल और कुसुम मालिकाएँ लेकर उपस्थित हुए।

अभयकुमार ने खड़े होकर संघ से प्रार्थना की—'मैं इस कुलकुमारी के पाणिपीड़न का प्रार्थी हूँ। कन्या के पिता नहीं हैं, इसलिए संघ मुझे अनुमति प्रदान करे।'

सालवती के मुँह पर भय और रोष की रेखाएँ नाचने लगीं। वह प्रतिवाद करने जा रही थी कि मगध के महामन्त्री के समीप बैठा हुआ मणिधर उठ खड़ा हुआ। उसने तीव्र कंठ से कहा—'मेरी एक विज्ञप्ति है, यदि संघ प्रसन्नता से सुने।' यह अभय का प्रतिद्वन्द्वी सेनापति मणिधर उपराजा बनने का इच्छुक था। सब लोग किसी आशंका से उसी की ओर देखने लगे।

राजा से बोलने की आज्ञा पाकर उसने कहा—'आज तक हम लोग कुलपुत्रों की समता का स्वप्न देखते आये हैं। उनके अधिकार ने, संपत्ति और स्वार्थों की समानता की रक्षा की है। तब क्या यह उचित होगा कि यह सर्वश्रेष्ठ सौंदर्य किसी एक के अधिकार में दे दिया जाय? मैं चाहता हूँ कि राष्ट्र ऐसी सुन्दरी को स्वतंत्र रहने दे और वह अनंग की पुजारिन अपनी इच्छा से अपनी एक रात्रि की दक्षिणा १०० स्वर्ण मुद्राएँ लिया करे।'

सालवती विपत्ति में पड़ गयी। उसने अपने दार्शनिक कुलपुत्रों की ओर रक्षा पाने के विचार से देखा। किन्तु उन लोगों ने घटना के इस आकस्मिक परिवर्तन को सोचा भी न था। इधर समानता का सिद्धान्त।

संस्थागर में हलचल मच गयी। राजा ने इस विज्ञप्ति पर मत लेना आवश्यक समझा। शलाकाएँ बँटीं। गणपूरक अपने कार्य में लगा। और सालवती प्रार्थना करने जा रही थी कि 'मुझे इस उपद्रव से छुट्टी मिले।'

किन्तु समानता और प्रजातंत्र के सिद्धान्तों की लगन। कौन सुनता है किसकी? उधर एक व्यक्ति ने कहा—'हम लोग भी अम्बापाली के समान ही क्या वज्जि राष्ट्र में एक सौंदर्य प्रतिमा नहीं स्थापित कर सकते, जिससे अन्य देशों का धन इस राष्ट्र में आवे।' अभयकुमार हतबुद्धि-सा क्षोभ और रोष से काँप रहा था।

उसने तीव्र दृष्टि से मगध के महामन्त्री की ओर देखा। मंत्री ने मुस्कुरा दिया। गणपूरक ने विज्ञप्ति के पक्ष में बहुमत की घोषणा की। राजा ने विज्ञप्ति पर स्वीकृति दी।

जब मत लिया जा रहा था तब सालवती के मन की अवस्था बड़ी विचित्र हो रही थी। कभी तो वह सोचती थी—पिता हिरण्य के उपासक थे। स्वर्ण ही संसार में प्रभु है—स्वतन्त्रता का बीज है। वही १०० स्वर्ण-मुद्राएँ उसकी दक्षिणा है और अनुग्रह करेगी वही। तिसपर इतनी संवर्धना! इतना आदर! दूसरे क्षण उसके मन में यह बात खटकने लगती कि वह कितनी दयनीया है, जो कुलवधू का अधिकार उसके हाथ से छीन लिया गया और उसने ही तो अभय का अपमान किया था। किसलिए? अनुग्रह न लेने का अभिमान! तो क्या मनुष्य को प्रायः वही करना पड़ता है जिसे वह नहीं चाहता! उसी ने मगध के महामन्त्री के सामने प्रजातंत्र का उत्कर्ष बताया था। वही एकराज मगध का प्रतिनिधि यहाँ बैठा है? तब बहुमत की जय हो। वह विरोध करना चाहती थी, परन्तु कर न सकी।

उसने आनन्द के नियतिवाद का एक बार मन में स्मरण किया, और गन्तव्य पथ पर वेग से चली।

[illegible] ओं ने आनन्द से उसका जयघोष [illegible] ओं में उपहार के ढेर लग गये। वह [illegible] पर [illegible] अपराधी [illegible] की [illegible] पर कुलपुत्र, फिर जनस्रोत। [illegible] पर उन्मत्त थे।

[illegible] रहा। जब संस्थागार से निकलने के [illegible] का हाथ दबाकर उसने कहा—

[illegible] —कहकर अभय ने क्षोभ [illegible]

[illegible] और एकान्तता का उपासक है।

[illegible]

*

[illegible], अपने विभव और सौन्दर्य में [illegible] वैशाली के सेनापति मणिधर। [illegible] में आकर भर रहा था। वहाँ अनेक कुलपुत्र [illegible], नहीं आया तो एक अभयकुमार।

और [illegible] का मान उसे अभयकुमार को पदानत किये बिना कुचला जा रहा था। वह उस दिन की एकावली पर आज अपना पूरा अधिकार समझती थी; किन्तु वह अब कहाँ मिलने की!

उसका हृदय तीव्र भावों से भर गया था। आज वह चिन्ता मग्न थी। मगध का युद्ध वैशाली में भयानक समाचार भेज रहा था। मगध की पूर्ण-

विजय के साथ यह भी समाचार मिला कि सेनापति मणिधर उस युद्ध में मारे गये। वैशाली में रोष और उत्साह छा गया। नयी सेना का संचालन करने के लिए आज संस्थागार में चुनाव होनेवाला है। नगर की मुख्य महिलाएँ, कुमारियाँ उस सेनापति का अभिनन्दन करने के लिए पुष्परथों पर चढ़कर चली जा रही हैं। उसे भी जाना चाहिए, क्या मणिधर के लिए दुखी होना मानसिक परतन्त्रता का चिह्न है, जिसे वह कभी स्वीकार न करेगी। वह भी उठी। आज उसके श्रृंगार का क्या कहना है! जिसके अभिमान पर वह जी रही थी, वही उसका सौन्दर्य कितने आदर और प्रदर्शन की वस्तु है। उसे सब प्रकार से सजाकर मणियों की झिलमिल में पुष्पों से सजे हुए रथ पर चढ़कर सालवती संस्थागार की ओर चली। कुछ मनचले नवयुवकों का जयघोष विरोध के स्वर में लुप्त हो गया। वह पीली पड़ गयी।

साधारण नागरिकों ने चिल्लाकर कहा—'इसी के संसर्ग दोष से सेनापति मणिधर की पराजय हुई।'

एक ने कहा—'यह मणिधर की काल-भुजंगिनी है।' दूसरे ने कहा—'यह वैशाली का अभिशाप है।' तीसरे ने कहा—'यह विचार-स्वातन्त्र्य के समुद्र का हलाहल है।' सालवती ने सारथी से कहा—'रथ फेर दो।' किन्तु दूसरी ओर से अपार जनसमूह आ रहा था। बाध्य होकर सालवती को राजपथ में एक ओर रुकना पड़ा।

तूर्य्यनाद समीप आ रहा था। सैनिकों के शिरस्त्राण और भाले चमकने लगे। भालों के फलक उन्नत थे। और उनसे भी उन्नत थे उन वीरों के मस्तक, जो स्वदेश की स्वतन्त्रता के लिए प्राण देने जा रहे थे। उस वीर-वाहिनी में सिन्धु देश के शुभ्र अश्वराज पर अभयकुमार आरूढ़ था। उसके मस्तक पर सेनापति का स्वर्णपट सुशोभित था। दाहिनी भुजा उठी हुई थी, जिसमें नग्न खड्ग सारी जनता को अभिवादन कर रहा था। और वीरों को रण-निमन्त्रण दे रही थी उसके मुख पर की सहज मुसकान।

फूलों की वर्षा हो रही थी। 'वज्जियों की जय' के रणनाद से वायु-मंडल गूँज रहा था। उस वीरश्री को देखने, उसका आदर करने के लिए कौन नहीं उत्सुक था! सालवती भी अपने रथ पर खड़ी हो गयी थी। उसने भी एक सुरचित माला लक्ष्य साधकर फेंकी और वह उस खड्ग से जाकर लिपट गयी।

जनता तो भावोन्माद की अनुचरी है। सैकड़ों कंठ से 'साधु' की ध्वनि निकली। अभय ने फेंकनेवाली को देखा। दोनों के नेत्र मिले। सालवती की आँखें नीची हो रहीं। और अभय, तन्द्रालस जैसा हो गया, निश्चेष्ट। उसकी तन्द्रा तब टूटी जब नवीन अश्वारोहियों का दल चतुष्पथ पर उसके स्वागत पर वीर-गर्जन कर उठा। अभयकुमार ने देखा, वे आठों दार्शनिक कुलपुत्र एक-एक गुल्म के नायक हैं, उसका मन उत्साह से भर उठा। उसने क्षण भर में निश्चय किया कि जिस देश के दार्शनिक भी अस्त्र ग्रहण कर सकते हैं, वह पराजित नहीं होगा।

अभयकुमार ने उच्चकंठ से कहा—'कुलपुत्रों की जय!'

'सेनापति अभयकुमार की जय!' कुलपुत्रों ने प्रत्युत्तर दिया। 'वज्जियों की जय!'—जनता ने जयनाद किया।

वीर-सेना युद्ध-क्षेत्र की ओर चली और सालवती दीन-मलिन अपने उपवन को लौटी। उसने सब श्रृंगार उतार कर फेंक दिये। आज वह सब से अधिक तिरस्कृत थी। वह धरणी में लोटने लगी। वसुधा पर सुकुमार यौवन लता-सी वह जैसे निरवलम्ब पड़ी थी।

आज जैसे उसने यह अनुभव किया कि नारी का अभिमान अकिंचन है। वह मुग्धा विलासिनी, अभी-अभी संसार के सामने अपने अस्तित्व को मिथ्या, माया, सारहीन समझ कर आयी थी। वह अपने सुवासित अलकों को बिखराकर उसी में अपना मुँह छिपाये पड़ी थी। नीला उसकी मुँहलगी

दासी थी। और वह वास्तव में सालवती को प्यार करती थी। उसने पास बैठकर धीरे-धीरे उसके बालों को हटाया, आँसू पोंछे, गोद में सिर रख लिया। सालवती ने प्रलयभरी आँखों से उसकी ओर देखा। नीला ने मधुर स्वर से कहा — 'स्वामिनी! यह शोक क्यों ?

सालवती चुप रही।

'स्वामिनी! शय्या पर चलो। इससे तो और भी कष्ट बढ़ने की संभावना है।'

'कष्ट! नीले! मुझे सुख ही कब मिला था?'

'किन्तु आपके शरीर के भीतर एक अन्य प्राणी की जो सृष्टि हो रही है, उसे तो सँभालना ही होगा।'

सालवती जैसे नक्षत्र की तरह आकाश से गिर पड़ी। उसने कहा— 'कहती क्या है?'

नीला हँसकर बोली—'स्वामिनी! अभी आपको अनुभव नहीं है। मैं जानती हूँ। वह मेरा मिथ्या-प्रलोभन नहीं।'

सालवती सब तरह से लुट गयी। नीला ने उसे शय्या पर लिटा दिया। उसने कहा—'नीले! आज से मेरे सामने कोई न आवे, मैं किसी को मुँह नहीं दिखाना चाहती। बस, केवल तुम मेरे पास बनी रहो।'

सुकोमल शय्या पर सालवती ने करवट ली। सहसा उसके सामने मणिधर का वह पत्र आया, जिसे उसने रण-क्षेत्र से भेजा था। उसने उठाकर पढ़ना आरम्भ किया। 'वैशाली की सौंदर्य-लक्ष्मी!' वह रुक गयी। सोचने लगी। मणिधर कितना मिथ्यावादी था। उसने एक कल्पित सत्य को साकार बना दिया। वैशाली में जो कभी न था उसने मुझे वही रूपाजीवा बनाकर क्या राष्ट्र का अनिष्ट नहीं किया? अवश्य! देखो, आगे लिखता है—

'मेरा मन युद्ध में नहीं लगता है।' 'लगता कैसे? रूपज्वाला के शलभ? तुझे तो जल मरना था। तो उसे अपराध का दण्ड मिला। और मैं स्वतन्त्रता के नाम पर जो भ्रम का सृजन कर रही थी, उसका क्या हुआ। मैं सालवन की विहगिनी! आज मेरा सौंदर्य कहां है? और फिर प्रसव के बाद क्या होगा?'

वह रोती रही।

सालवती के जीवन में रुदन का राज्य था। जितना ही वह अपनी स्वतन्त्रता पर पहले सहसा प्रसन्न हो रही थी, उतना ही उस मानिनी का जीवन दुखपूर्ण हो गया।

वह गर्भवती थी।

उपवन से बाहर न निकलती थी और न तो कोई भीतर आने पाता। सालवती ने अपने को बन्दी बना लिया।

कई महीने बीत गये। फिर से मधुमास आया। पर सालवती का वसन्त जैसे सदा के लिए चला गया था। उसने उपवन के प्राचीर में से सुना जैसे कोई तूर्य्यनाद के साथ पुकार रहा है। 'वज्जियों की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी अनंगपूजा...' आगे वह कुछ न सुन सकी। वह रोष से मूर्च्छित थी। विषाद से उसकी प्रसव-पीड़ा भयानक हो रही थी। नीला ने उपचार किया। वैद्य के प्रयत्न से उसी रात्रि में सालवती को एक सुन्दर-सी सन्तान हुई।

सालवती ने अपने यौवन-वन के कुठार को देखा। द्वन्द्व से वह तड़पने लगी, मोह को मान ने पराजित किया। उसने कोमल फूलों की टोकरी में अच्छे वस्त्रों में लपेट कर उस सुकुमार शिशु को एक ओर गोधूलि की शीतल छाया में रखवा दिया। वैद्य का मुँह सोने से बन्द कर दिया गया।

उसी दिन सालवती अपने सुविशाल भवन में लौट आयी।

और उसी दिन अभयकुमार विजयी होकर अपने पथ से लौट रहा था। तब उसे एक सुन्दर शिशु मिला। अभय उसे अपने साथ ले आया।

प्रतियोगिता का दिन था। सालवती का सौंदर्य-दर्प जागरूक हो गया था। उसने द्राक्षासव का घूँट लेकर मुकुर में अपनी प्रतिच्छाया देखी। उसकी फूलों की ऋतु बीत चली है। वह अपमान से भयभीत होकर बैठ रही।

वैशाली विजय का उत्सव मना रही थी। उधर वसन्त का भी समारोह था। सालवती को सब लोग भूल गये और अभयकुमार! वह कदाचित् नहीं भूला—कुछ-कुछ क्रोध से, कुछ विषाद से, कुछ स्नेह से। संस्थागार में चुनाव की भीड़ थी, उसमें जो सुन्दरी चुनी गयी, वह निर्विवाद नहीं चुनी जा सकी। अभयकुमार ने विरोध किया। आठों कुलपुत्रों ने उसका साथ देते हुए कहा—'जो अनुपम सौंदर्य नहीं, उसे वेश्या बनाना सौंदय-बोध का अपमान करना है।' किन्तु बहुमत का शासन! चुनाव हो ही गया। वैशाली को अब वेश्याओं की अधिक आवश्यकता थी।

सालवती ने सब समाचार अपनी शय्या पर लेटे-लेटे सुना। वह हँस पड़ी। उसने नीला से कहा—'नीले! मेरे स्वर्ण-भंडार में कमी तो नहीं है?'

'नहीं स्वामिनी!'

'इसका ध्यान रखना—मुझे आर्थिक परतन्त्रता न भोगनी पड़े।'

'इसकी संभावना नहीं। आप निश्चिंत रहें।'

किंतु सालवती! हाँ, वह स्वतंत्र थी एक कंगाल की तरह, जिसके पास कोई अधिकार नियंत्रण, अपने पर भी नहीं—दूसरे पर भी नहीं। ऐसे आठ वसन्त बीत गये।

* * * *

अभयकुमार अपने उद्यान में बैठा था। एक शुभ्र शिला पर उसकी

वीणा रखी थी। दो दास उसके सुगठित शरीर में सुगंधित तेल मर्दन कर रहे थे। सामने मंच पर एक सुन्दर बालक अपनी क्रीड़ा-सामग्री लिये व्यस्त था। अभय अपनी बनायी हुई कविता गुनगुना रहा था। वह बालक की अकृत्रिम हँसी पर लिखी गयी थी। अभय के हृदय का समस्त संचित स्नेह उसी बालक में केन्द्रीभूत था। अभय ने पूछा—'आयुष्मान्! विजय! तुम भी आज मल्ल-शाला में चलोगे न?'

बालक क्रीड़ा छोड़कर उठ खड़ा हुआ 'जैसे वह सचमुच किसी से मल्ल-युद्ध करने के लिए प्रस्तुत हो। उसने कहा—'चलूँगा और लडूँगा भी!'

अभय ठठाकर हँस पड़ा। बालक कुछ संकुचित हो गया। फिर सहसा अभय को स्मरण हो गया कि उसे और भी कई काम हैं। वह स्नान के लिए उठने लगा कि संस्थागार की सन्निपात भेरी बज उठी। एक बार तो उसने कान खड़े किये; पर फिर अपने में लीन हो गया। मगध-युद्ध के बाद उसने किसी विशेष पद के लिए कभी अपने को उपस्थित नहीं किया। वह जैसे वैशाली के शासन में भाग लेने से उदासीन हो रहा था! स्वास्थ्य का बहाना करके उसने अवसर ग्रहण किया। उसके मगध-युद्ध के सहायक शेष दार्शनिक कुलपुत्र उसके अभिन्न मित्र थे। वे भी अविवाहित थे। अभयकुमार की गोष्ठी बिना सुन्दरियों की जमती थी। वे भी आ गये। इन सबों के बलिष्ठ शरीरों पर मगध-युद्ध के वीर-चिह्न अंकित थे।

अभिनन्द ने पूछा—'आज संस्थागार में हम लोग चलेंगे कि नहीं?'

अभय ने कहा—'मुझे तो मल्ल-शाला का निमंत्रण है।'

अभिनन्द ने कहा—'तो सचमुच हम लोग वैशाली के शासन से उदासीन हो गये हैं क्या?'

सब चुप हो गये। समुद्र ने कहा—'अन्त में व्यवहार की दृष्टि से

हम लोग पक्के नियतिवादी ही रहे। जो कुछ होना है, वह होने दिया जा रहा है।'

आनन्द हँस पड़ा। मणिकंठ ने कहा—'नहीं, हँसने से काम न चलेगा। आज जब उपवन से आ रहा था तब मैंने देखा कि सालवती के तोरण पर बड़ी भीड़ है। पूछने से मालूम हुआ कि आठ बरस के दीर्घ एकान्तवास के बाद सौंदर्य के चुनाव में भाग लेने के लिए सालवती बाहर आ रही है। मैं क्षण-भर रुका रहा। वह अपने पुष्प-रथ पर निकली। नागरिकों की भीड़ थी। कुल-वधुओं का रथ रुक रहा था। उनमें कई तेजस्विनी महिलाएँ थीं, जिनकी गोद में बच्चे थे। उन्होंने तीव्र स्वर में कहा—'यही पिशाचिनी हम लोगों के बच्चों से उनके पिताओं को, स्त्रियों से उनके पतियों को छीननेवाली है।' वह एक क्षण खड़ी रही। उसने कहा—'देवियो! मैं आठ बरस के बाद वैशाली के राजपथ पर दिखाई पड़ी हूँ। इन दिनों मैंने किसी पुरुष का मुँह भी नहीं देखा। मुझे आप लोग क्यों कोस रही हैं?' वे बोलीं—'तूने वेश्यावृत्ति के पाप का अविष्कार किया है। तू कुलपुत्रों के धन की दावाग्नि की प्रथम चिनगारी है। तेरा मुँह देखने से भी पाप है। राष्ट्र के इन अनाथ पुत्रों की ओर देख! पिशाचिनी!' कई ने बच्चों को अपनी गोद से ऊँचा कर दिया।

सालवती ने उन बालकों की ओर देखकर रो दिया।

'रो दिया?'—अभिनन्द ने पूछा।

'हाँ-हाँ, रो दिया' और उसने कहा—'देवियो! मुझे क्षमा करें। मैं प्रायश्चित्त करूँगी।' उसने अपना रथ बढ़वा दिया। मैं इधर चला आया; किन्तु कुलपुत्रों से सत्य कहता हूँ कि सालवती आज भी सुन्दरियों की रानी है।'

अभयकुमार चुपचाप विजय को देख रहा था। उसने कहा—'तो क्या हम लोग चलेंगे?'

'हाँ हाँ'—

अभय ने दृढ़ स्वर में पूछा—'और आवश्यकता होगी तो सब प्रकार से प्रतिकार करने में पीछे न हटेंगे ?'

'हाँ, न हटेंगे!' दृढ़ता से कुलपुत्रों ने कहा।

'तो मैं स्नान करके अभी चला।' रथों को प्रस्तुत होने के लिए कह दिया जाय।

जब अभय स्नान कर रहा था, तब कुलपुत्रों ने कहा—'आज अभय कुछ अद्‌भुत काम करेगा?'

आनन्द ने कहा—'जो होना होगा, वह तो होगा ही। इतनी घबराहट से क्या?'

अभय शीघ्र स्नानागार से लौट आया। उसने विजय को भी अपने रथ पर बिठाया।

कुलपुत्रों के नौ रथ संस्थागार की ओर चले। अभय के मुख पर गम्भीर चिन्ता थी और दुर्दमनीय दृढ़ता थी।

सिंहद्वार पर साधारण जनता की भीड़ थी और विशाल प्रांगण में कुल-पुत्रों की और महिलाओं की। आज सौंदर्य प्रतियोगिता थी। रूप की हाट सजी थी। आठ भिन्न आसनों पर वैशाली की वेश्यायें भी बैठी थीं। नवाँ आसन सूना था। अभी तक नयी प्रार्थिनी-सुन्दरियों में उत्साह था, किंतु सालवती के आते ही जैसे नक्षत्रों का प्रकाश मन्द हो गया। पूर्ण चन्द्रोदय था। सालवती आज अपने संपूर्ण सौंदर्य में यौवनवती थी। सुन्दरियाँ हताश हो रही थीं। कर्मचारी ने प्रतियोगिता के लिए नाम पूछा। किसी ने नहीं बताया।

उसी समय कुलपुत्रों के साथ अभय ने प्रवेश किया। मगध-युद्ध-विजेता का जय-जयकार हुआ। सालवती का हृदय काँप उठा। न जाने क्यों वह अभय से डरती थी। फिर भी उसने अपने को सँभाल कर अभय का स्वागत किया। युवक सौंदर्य के चुनाव के लिए उत्कण्ठित थे। कोई कहता—'नहीं, आज सालवती के सामने इसका निर्णय होगा।' परन्तु कोई सुन्दरी अपना नाम नहीं देना चाहती थी। सालवती ने अपनी विजय से मुस्करा दिया।

उसने खड़ी होकर विनीत स्वर से कहा—'यदि माननीय संघ को अवसर हो, वह मेरी विज्ञप्ति सुनना चाहे, तो मैं निवेदन करूँ।'

संस्थागार में सन्नाटा था।

उसने प्रतिज्ञा उपस्थित की।

'यदि संघ प्रसन्न हो, तो मुझे आज्ञा दे। मेरी यह प्रतिज्ञा स्वीकार करे कि 'आज से कोई स्त्री वैशाली-राष्ट्र में वेश्या न होगी।''

कोलाहल मचा।

'और तुम अपने सिंहासन पर अचल बनी रहो। कुलवधुओं के सौभाग्य का अपहरण किया करो।' महिलाओं के तिरस्कार पूर्ण शब्द अलिन्द (छज्जा) से सुनायी पड़े।

'धैर्य धारण करो देवियो! हाँ तो—इस पर संघ क्या आज्ञा देता है?'—सालवती ने साहस के साथ तीखे स्वर में कहा।

अभय ने प्रश्न किया—'क्या जो वेश्यायें हैं, वे वैशाली में बनी रहेंगी? और क्या इस बार भी सौंदर्य—प्रतियोगिता में तुम अपने को विजयिनी नहीं समझती हो?'

'मुझे निर्वासन मिले—कारागार में रहना पड़े। जो भी संघ की आज्ञा

हो; किंतु अकल्याणकर और पराजय के मूल इस भयानक नियम को, जो अभी थोड़े दिनों से वज्जिसंघ ने प्रचलित किया है, बंद करना चाहिए।'

एक कुलपुत्र ने गम्भीर स्वर से कहा—'क्या राष्ट्र की आज्ञा से जिन स्त्रियों ने अपना सर्वस्व उसकी इच्छा पर लुटा दिया, उन्हें राष्ट्र निर्वासित करेगा, दंड देगा? गणतन्त्र का यह पतन!'

एक ओर से कोलाहल मचा—'ऐसा न होना चाहिए।'

'फिर इन लोगों का भाग्य किस संकेत पर चलेगा?'—राजा ने गम्भीर स्वर से पूछा। 'इनका कौमार्य्य, शील और सदाचार खंडित है। इसके लिए राष्ट्र क्या व्यवस्था करता है?'

'संघ यदि प्रसन्न हो, उसे अवसर हो, तो मैं कुछ निवेदन करूँ।' आनन्द ने मुसकराते हुए कहा।

राजा का संकेत पाकर उसने फिर कहा—'हम आठ मगध-युद्ध के खडित शरीर विकलांग कुलपुत्र हैं। और ये शीलखंडिता आठ नयी अनंग की पुजारिनें हैं।'

कुछ लोग हँसने की चेष्टा करते हुए दिखायी पड़े। कर्मचारियों ने तूर्य्य बजाकर शान्त रहने के लिए कहा।

राजा, उपराजा, सेनापति, मन्त्रधर, सूत्रधर, अमात्य, व्यावहारिक और कुलिकों ने इस जटिल प्रश्न पर गंभीरता से विचार करना आरम्भ किया। संस्थागार मौन था।

कुछ काल के बाद सूत्रधर ने पूछा—'तो क्या आठों कुलपुत्रों ने निश्चय कर लिया है? इन वेश्याओं को वे लोग पत्नी की तरह ग्रहण करेंगे?'

अभय ने उनकी ओर संभ्रम से देखा। वे उठ खड़े हुए। एक साथ

स्पष्ट स्वर में उन लोगों ने कहा—'हाँ, यदि संघ वैसी आज्ञा देने की कृपा करे।'

'संघ मौन है; इसलिए मैं समझता हूँ उसे स्वीकार है।' राजा ने कहा।

'सालवती! सालवती!!' पुकार उठी। वे आठों अभिनन्द आदि के पार्श्व में आकर खड़ी हो गयी थीं; किन्तु सालवती अपने स्थान पर पाषाणी प्रतिमा की तरह खड़ी थी। यही अवसर था, जब नौ बरस पहले उसने अभयकुमार का प्रत्याख्यान किया था। पृथ्वी ने उसके पैर पकड़ लिये थे, वायुमण्डल जड़ था, वह निर्जीव थी।

सहसा अभयकुमार ने विजय को अपनी गोद में उठाकर कहा—'मुझे पत्नी तो नहीं चाहिए। हाँ, इस बालक की माँ को खोज रहा हूँ, जिसको प्रसव-रात्रि में ही उसकी मानिनी माँ ने लज्जापिण्ड की तरह अपने सौंदर्य की रक्षा के लिए फेंक दिया था। उस चतुर वैद्य ने इसकी दक्षिण भुजा पर एक अमिट चिह्न अंकित कर दिया है। उसे यदि कोई पहचान सके, तो वह इसे अपनी गोद में ले।'

सालवती पागलों की तरह झपटी। उसने चिह्न देखा। और देखा उस सुन्दर मुख को। वह अभय के चरणों में गिरकरबोली—'यह मेरा है देव! क्या तुम भी मेरे होगे?' अभय ने उसका हाथ पकड़ कर उठा लिया।

जयनाद से संस्थागार मुखरित हो रहा था।



श्री 'वियोगी'

जन्म—१९०२ ई० जन्म स्थान—गया

रचना—१९२७ ई० पेशा—लिखना

श्री मोहनलाल जी महतो प्रतिभावान कलाकार हैं। आप कवि, कहानीकार, चित्रकार और सुन्दर निबंध-लेखक हैं। भावुकता आपकी रचनाओं की जान है। कला को कला के सारे अंगों से सुसज्जित करना आपकी खासियत है। आप सुंदर व्यंग-चित्रकार भी हैं। आप कवि पहले, कहानीकार पीछे हैं।

'पाँच-मिनट' कहानी भावों का एक उद्गार है जो पाठक के हृदय-गह्वर से आँसू की बूँदें खींच लाती है। पति को फाँसी की सज़ा मिली है। पत्नी पाँच मिनट के वास्ते उससे मिलने जाती है। उस समय का चित्रण क्या आसान काम है! पर वियोगी जी की क़लम ने कमाल किया है।

रचनाएँ—

कविता—निर्माल्य, एकतारा, आर्यावर्त।

कहानी—भाई-बहन।



पाँच मिनट !

बस, पाँच मिनट ! वह सीखचों के उस पार हथकड़ियों से जकड़ा हुआ और मैं—हाय भाग्य ! मैं पुलिस के पहरे में बाहर खड़ी—काँपती हुई, थरथराती हूँ। बस, पाँच मिनट की मुलाकात थी—देखते-देखते समाप्त हो गयी !

*　　*　　*　　*

पिछली बातों की याद क्यों करूँ—वे छुरी बनकर मेरे हृदय में चुभ जाती हैं। पिछली गाथा किसे सुनाऊँ—कोई मन लगाकर सुननेवाला नहीं ; यदि कोई सुनता है भी तो अनमना होकर, बेमन से। सुनकर कहता है—"बहिन, तुम्हारा भाग्य ! ईश्वर को याद करो।" हाय—दुर्भाग्यग्रस्त अभागों को कभी ईश्वर ने सहायता नहीं पहुँचायी, डूबते हुए को ईश्वर ने कभी सहारा नहीं दिया, भूखों को कभी ईश्वर ने रोटी नहीं दी, रोनेवालों के आँसू पोंछने वह कभी नहीं आया। वह स्वर्ग के नन्दन-वन में विहार करनेवाला है। वह अपनी स्त्री का आज्ञाकारी है। जिस पर लक्ष्मी रीझती हैं, उसी पर ईश्वर भी

अनुग्रह करता है। मुझ दरिद्र से उसका क्या नाता? ग़रीबों का ईश्वर है—उनका दुर्भाग्य! मैं दुर्भाग्य की पाली, बदकिस्मती की लाड़ली ईश्वर को क्यों पुकारूँ? पुकारती भी हूँ, तो अपने दुर्भाग्य को। वह आता है और एक न एक नये पहाड़ सिर पर ठेलकर खिलखिला पड़ता है, मगन हो जाता है, थिरक उठता है!

एक बार दुर्भाग्य को पुकारा तो एक बेकार, ग़रीब ग्रैजुएट से गठबन्धन कराके वह बगलें बजाने लगा, दूसरी बार उसे पुकारा तो दो बच्चे हुए, तीसरी बार पुकारा तो मेरा अपना, जीवन-सर्वस्व, डूबते का सहारा तिनका, खून के जुर्म में जेल चला गया—फाँसी की सज़ा हो गयी। सब समाप्त हो गया। अब उसे क्यों पुकारूँ?

यदि ग़रीबी ही समस्त अपराधों की जड़ है तो दे दो उसे फाँसी, उसे गोली से उड़ा दो, कुत्तों से नुचवा डालो, पर मैं कहूँगी—वह खूनी नहीं, दरिद्र है; अपराधी नहीं, भूखा है; हत्यारा नहीं, विपदग्रस्त है। उसे पापी मत कहो, भूखा कहो।

क्या किया था उसने? कौन-सा पाप किया उसने? कुछ नहीं—कुछ नहीं! फ़कत पापी पेट के लिए, दरिद्र परिवार के लिए, अभागे बच्चों के लिए कुछ प्रयत्न किया था। क़ानून ने इसी प्रयत्न को, दुर्भाग्य ने इसी चेष्टा को 'खून' का अपराध बना दिया, फाँसी की व्यवस्था कर दी। परवा नहीं—मैं साहस पूर्वक कहती हूँ—परवा नहीं; वह मरे—फाँसी पर लटक जाय, पर मुझे सन्तोष है, वह अपराधी नहीं है। सौ बार, हज़ार बार कहती हूँ—पापी नहीं; वह दरिद्र है, अभागा है, पर है मनुष्य।

भूख के मारे कुसंग में पड़ गया। चोरियाँ कीं, डाके डाले, लूटा-मारा, सब कुछ किया, पर पेट के लिए ही। नैतिक दृष्टि से वह अपराधी है, पापी है, खूनी है, डाकू है। पर ज़रा सोचो तो—क्या केवल संसार में

नैतिकता ग़रीबों के ही बाँटे पड़ी है? रामधन तेली गाँवभर के खेतों को, क़र्ज़ दे-देकर हथिया रहा है—सैकड़ों बच्चे मर रहे हैं, उसके सूद की तीखी धार में पड़कर। यह पाप नहीं है, और पाप है मेरे ग़रीब पति का एक छोटा-सा अपराध! ख़ैर, उसे संसार से हटा दो, पर इससे क्या पाप का द्वार बन्द हो जायगा? कभी नहीं। मैं कहती हूँ—"हर्गिज़ नहीं।"

२

कल मुझे एक पत्र मिला—सरकारी! मेरा पति मुझसे मुलाकात करना चाहता है—अन्तिम मुलाकात। वह परसों फाँसी पा जायगा। उसकी अन्तिम इच्छा है—अपने बच्चों को देखेगा, स्त्री को देखेगा। मैं अपने पति के अन्तिम दर्शन करने चली। चली अपने प्राणेश्वर की जीवित लाश को देखने। मैं जिसे देखने चली, उसके सम्बन्ध में यह जानती थी कि उसके सिरपर काल की छाया पड़ चुकी है, उसके गले के लिए रस्सी बँट चुकी है, उसके लिए कफ़न खरीदा जा चुका है—पर वह आज जीवित है, हमारी और आपकी तरह—आश्चर्य!

आप सोचिये—आपका सर्वाधिक प्रिय काल का ग्रास बना बैठा है, आप उसे देखने जाते हैं। आज जिसे आप देख रहे हैं, कल सुबह उसकी लाश आपको मिल जायगी, जिसका गला रस्सी के फन्दे से घोंट डाला गया है। मैं क़ानून को दोषी नहीं ठहराती, मैं न्याय पर आक्रमण नहीं करती, पर मनुष्यता से पूछती हूँ—"बोलो बहिन एक बार बोलो! न्याय मूक है, बधिर है, अन्ध है, उसके सामने जिसे उपस्थित किया जायगा, वह उसकी परीक्षा कर लेगा, पर तुम तो हृदय रखती हो—मेरी ओर से कुछ तो बोलो!"

मैं चली—अपनापन बिसारकर चली। सोचा, एक बार चरणों को चूम लूँगी, एक बार उनकी छाती में सिर छिपाकर रोऊँगी और पूछूँगी—"देव, मेरी प्रतीक्षा भी करोगे? भूल तो नहीं जाओगे? इसी अभागी ने तुम्हारी चढ़ती हुई जवानी में आग के दहकते हुए अंगारे रख दिये, तुम्हारे यौवन के प्याले में विष घोल दिया। क्षमा कर देना, भूल जाना। यह तुम्हारा बच्चा है;

इसे दुलार लो—एक बार पितृस्नेह के शीतल जल से इसे अभिषिक्त कर दो। यह तुम्हारी धरोहर है।" मैं चल पड़ी जेल की ओर। गोद में बच्चा था—गोपाल। बोला—"अम्मा, कहाँ जाती है?" क्या उत्तर देती? क्या कहकर उस मासूम को समझाती? कहा—"बेटा, बाबूजी को देखने नहीं चलोगे? वे तुम्हें देखना चाहते हैं।"

गोपाल प्रसन्न होकर बोला—"अम्मा, बहुत दिनों से बाबूजी नहीं आये! खिलौने माँगूँगा; पैसे माँगूँगा—मुन्नी को एक भी खिलौना नहीं दूँगा। मेरे बाबूजी हैं—वे मुन्नी के कौन होते हैं?" मेरा हृदय शतधा विभक्त हो गया। हाय रे अभागा बच्चा! तेरे बाबूजी काल की गोद में बैठे हैं, जीवन के दिन उंगलियों पर गिन रहे हैं। पिंजड़े में बन्द हैं। स्वात्म करके बोली—"बेटा, भगवान की याद करो।"

गोपाल मेरा आंचल खींचकर बोला—"बाबूजी कब आवेंगे? साथ लेकर आऊँगा। तुम मना मत करना—वे मेरे लिए छोटी-सी साइकिल लावेंगे—जैसी जयगोविन्द की है। अम्मा, वह मुझे साइकिल छूने नहीं देता। कहता है, टूट जायगी। क्या छूने से साइकिल टूट जाती है? बड़ा बदमाश लड़का है। मुन्नी को भी अपनी साइकिल छूने नहीं दूँगा—मेरी स्लेट तोड़ दी उसने। मना करने पर दाँत काटने लगती है। मैं बाबूजी से कह दूँगा।"

२

जेलर ने आज्ञा दे दी—"ले जाओ।" एक सिपाही लेकर साथ चला। दोनों ओर कोठरियाँ—मोटे-मोटे सींखचे और उसमें बन्द ईश्वर की श्रेष्ठ कला के श्रेष्ठतर नमूने—मनुष्य! एक-दो-चार नहीं, सौ—पाँच सौ। संसार में अकेले मैं ही अभागी नहीं हूँ—हज़ारों हैं, लाखों हैं।

एक अंधेरी कोठरी के सामने खड़ी की गयी। गोपाल डर के मारे मेरे पैरों में लिपट कर खड़ा हो गया। वह काँप रहा था—सिकुड़ा जाता था।

सिपाही ने पुकारा—" प्रकाश ! "

मैंने चारों ओर देखा। यह फांसी-घर है। अपने जीवन की अन्तिम घड़ियों के कैदी यहीं रहते हैं। इस घर को यदि बोलने की शक्ति प्राप्त हो जाय तो संसार को एक ऐसा साहित्य पढ़ने को मिले, जिसकी तुलना में दूसरा साहित्य ठहर ही नहीं सकता। इस कोठरी की ईंट ईंट ऐसे ही लोगों की आहों से पकी है; भट्टे की आग तो निमित्त मात्र ही थी। इसके फर्श पर कितने आँसू सूखे होंगे, उन्हें यदि जमा किया जाय तो संसार के आधे सभ्यताभिमानी उसमें डूब जायँ। इस कोठरी पर मौत रीझ गयी है—हरे हरे! कोठरी के भीतर से आवाज़ हुई—झन, झन, झन! एक दुबला, थका हुआ, हताश, अर्ध—मृत युवक दरवाज़े पर आकर खड़ा हो गया। यही था उस अन्धकूप में रहनेवाला 'प्रकाश'—मेरे अन्धकारमय भविष्य का अन्तिम प्रकाश, अपने गोपाल का प्रकाश और प्यारी बच्ची मुन्नी का प्रकाश!

सिपाही ने कहा—" पाँच मिनिट का समय है; बातें कर लो। हाँ, जल्दी, देर न हो। "

मुझे दूर हटकर खड़ा होने का हुक्म हुआ। मैं कैदी को कुछ दे न दूँ, यह भय था। मैंने देखा—उसका चेहरा बालों से भरा हुआ है, सिर के बिखरे हुए बाल और लम्बी दाढ़ी और मूछें। आँखें धस गयी हैं, शरीर सूख-कर काँटा बन गया है। मैंने कहा—" गोपाल, बाबूजी को प्रणाम करो। " गोपाल—हक्का-बक्का बच्चा गोपाल—भूमि से सिर लगाकर प्रणाम करने लगा। मैंने भी प्रणाम किया। वह धुंधले प्रकाश में खड़ा था—उस पार! रुँधे हुए कण्ठ से वह बोला—" सु....खी...र....हो। यह अन्तिम भेंट है, अन्तिम आशीर्वाद है, आख़िरी बातचीत है। बस, कल सुबह आकर मेरी लाश ले जाना—मैंने जेलर को कह दिया है। " मैं सिर थाम बैठ गयी।

गोपाल बोला—" बाबूजी, चलो न। " मानो किसी ने मेरे हृदय पर

कसकर एक मुक्का मार दिया—कैसा भोलाभाला आग्रह है! वह बोला—"बेटा, मैं दूसरी दुनियाँ का यात्री हूँ, तुम पढ़ना। अम्मा को कष्ट न देना।" मैंने देखा कि उसकी आँखों से आँसुओं की धारा बह रही थी। वह छड़ पकड़ कर खड़ा है—पत्थर की तरह। गोपाल ने फिर कहा—"बाबूजी, मुन्नी गोर्व है। उसने मेरी स्लेट तोड़ दी। दूसरी स्लेट खरीद दो।"

उसने एक लम्बी साँस छोड़कर कहा—"सुनती हो—गोपाल की स्लेट टूट गयी है। इसे एक स्लेट खरीद दो।"

मैं क्या बोलती; मुझे तो ऐसा ही जान पड़ा कि मानों मेरे दोनों कान बहरे हो गये; आँखों के आगे अन्धेरा छा गया।

उसने फिर कहा—"अच्छी तरह रहना; बच्चों को प्यार से रखना और गोपाल को पढ़ाती रहना। मैं तो अब चला; पर गोपाल को अपनी थाती रखे जाता हूँ। चिन्ता मत करो। जो होना था, होकर ही रहा।"

मैं बोली—"और....और...।"

कण्ठ रुँध गया—आँखों से मानो कलेजे का खून आँसू बनकर गिरने लगा।

सिपाही बोला—"बस, चलो पाँच मिनट हो गये!" वह बोला—"अच्छा, बिदा! एक बार मेरी ओर से गोपाल को चूम लो—मैं देख लूँ। परमात्मा तुम्हें धैर्य दे। अगले जन्म में मिलूँगा।"

सिपाही गुर्रा कर बोला—"जल्दी करो; समय समाप्त हो गया; चलो।"



श्रीमती उषादेवी मित्रा

जन्म—१९०१ ई० जन्म स्थान—जब्बलपुर

रचना—१९३२ ई० पेशा—लिखना

श्रीमती उषादेवी मित्रा बंगाली महिला हैं। परन्तु आपके पिता बाबू हरिश्चन्द्र दत्त जब्बलपुर में रहते थे; इसलिए हिन्दी आपकी मातृ-भाषा की तरह बन गयी। आपकी माता विदुषी थीं। आपके पति बाबू क्षितीशचन्द्र मित्र इंजीनियर थे। आजकल आप अपनी पुत्री श्री बुल्बुल मित्रा के साथ देहरादून में रहती हैं।

दुखद वैधव्य प्राप्त हो जाने के बाद आप साहित्य की ओर झुकीं। स्त्री-हृदय का आकुल आक्रोश, न बुझनेवाली प्यास, उसकी कमज़ोरी और बल को ऐसे सुन्दर ढंग से शायद ही और कोई कहानीकार चित्रित कर सका हो।

प्रस्तुत "बुभुक्षा" कहानी में हम नारी की भिन्न भिन्न भूख व प्यास को देखते हैं और देखते हैं उसकी विवशता और साथ ही पुरुष की प्रज्वलित, अमर लालसा—जिसमें नारी क्षण क्षण बलिदान हो रही है। लेखिका पाठकों के मन में इस निरंतर

शोषण और अत्याचार का कोई हल निकालने की प्रेरणा देती है। नारी-हृदय की विवशता का सुन्दर चित्रण हुआ है इसमें।

रचनाएँ—

उपन्यास—वचन का मोल, पिया, जीवन की मुस्कान, पथचारी।

कहानी संग्रह—आंधी के छन्द, महावर, मेघमल्लार।



बुभुक्षा

फेंक देना और चुन लेना कदाचित् नवीन का अदृष्ट रहा हो। मध्य रात्रि की गहरी अँधेरी में नवजात शिशु उस बड़े मकान के लौह-द्वार पर रो उठा—शायद अपने भाग्य के विरुद्ध या असहाय माता के विरुद्ध, ऐंठकर, रूठकर, मानो किसी के विरुद्ध विद्रोह, करुण विलाप की घोषणा कर उठा। कौन जाने किसके विरुद्ध, जल-स्थल या पृथ्वी के।

तब उस नीरव रात्रि में विख्यात धनी राममनोहर का बृहत् द्वार झन-झनाकर खुल गया और घर की विलासिनी वधू एक ही पल में माता बन बैठी। दास-दासियों की भीड़ के भीतर से अमला ने उसे चुन लिया। दासी-चाकर की भौंहें सिकुड़ीं—"कौन जाने किस जाति का बच्चा है बहू जी, चमार—भङ्गी का हो—कौन जाने।"

और राममनोहर जैसे एक नास्तिक का हृदय भी द्विविधा में पड़ गया। उसके घर पान-भोजन का विचार कुछ नहीं था, इंग्लिश रीति से रहन-सहन थी, पर्दा प्रथा की झंझट भी नहीं थी। परन्तु फिर भी वह कह उठा—"अरे हटाओ उसे अमला, न जाने कौन जात है।" अमला पल भर के लिए लौटी— "जनेऊ गले में डालकर पृथ्वी में कब कौन आया है?"

उसका विद्रोही स्वर वहाँ की वायु में मंडराने-सा लगा—"जनेऊ गले में डालकर पृथ्वी में कब कौन आया है?"

क्या वह केवल एक प्रश्न ही था? नहीं—नहीं; राममनोहर के लिए उसमें जो एक व्यंग छिपा हुआ था, उसे समझने के साथ ही साथ राम को वहाँ से भाग भी जाना पड़ा। किन्तु निष्कृति कहाँ? पत्नी तो प्रलय के लिए तनी खड़ी थी न। उसने सुना—"यदि ज़रूरत हो तो जनेऊ डाल देना।"

बस, नवीन का पूर्व इतिहास था इतना ही। किन्तु वर्तमान में धन, ऐश्वर्य, सुख-सम्मान की छाया में वह इतिहास सम्पूर्ण दब चुका था। यदि उस इतिहास से नवीन जानकार था भी, तो वर्तमान के अर्थस्तूप के नीचे दबकर इतिहास की स्मृति प्राणहीन-सी हो गयी थी; वास्तव था स्वर्गीय राममनोहर का एकमात्र पुत्र, उच्छृंखल, छत्तीस ग्रामों का प्रभु नवीन।

तरुण ज़मींदार मृत ज़मींदार के विपरीत था। ग्रेजुएट था, मद्यप, वेश्यागतप्राण और अमित-व्ययी था। केवल माता अमला के निकट था वह एक जल-सा स्वच्छ शिशु मात्र।

प्रथम रात्रि थी। 'रामभवन' का अन्तःपुर नींद से झुक-सा रहा था, काम-काज की निवृत्ति थी। और बाहर महल ख़ुशी, आमोद से था नृत्यशील। भृत्य ह्विस्की, सोडा, पान देने में व्यस्त थे। बृहत् हाल जनाकीर्ण हो रहा था। तबले ठनक रहे थे और सारङ्गी में स्वर मिलाकर सारङ्गी-सी मीठी बाईजियों की रानी कुमकुम बाई ठुमरी की हलकी-हलकी

मुरकियों में नव-वसन्त की कोकिला को साकार करने में व्यस्त थी। मुसाहबों से घिरा बीच में बैठा था नवीन एक सम्राट-सा—तन्द्राच्छन्न, धन-यौवन, आज्ञा-आदेश, प्रभुत्व के नशे में मस्त। ऐसे ही समय द्विधा-जड़ित गति से हाल में पहुँचा बूढ़ा नायब। नवीन के पार्श्वचर चिल्ला उठे—"बस यहाँ केवल आपकी कमी थी नायबजी, बैठिये, दिन रात हिसाब-किताब देखना। ज़िन्दगी तो बीत गयी ढोर चराते, बुढापे में ज़रा मज़ा उड़ाइये। एक पेग पेट में पहुँचा नहीं कि ज़िन्दगी हरी हो पड़ेगी।"

नायब ज़रा-सा हँसा—"नहीं भैया, वह तुम्ही को सोहता है। एक ज़रूरी काम से आना पड़ा।" वह नवीन के सामने खड़ा हो गया।

विरक्ति से नवीन की भौहें सिकुड़ीं—"इस वक्त मैं कुछ नहीं सुन सकता।"

नवीन के मुँह से वेदवाणी निकलने की देर थी कि चहुँ ओर से उदारा, मुदारा और तारा इन तीन सप्तकों के सुर गूंजने लगे—"कुछ नहीं, कुछ नहीं सुन सकते।"

कोई बोला—"अजी, कैसे गँवार हो तुम नायबजी, ऐसे वक्त कहीं खेत-खलिहान की सुनी जाती है। निरे भोंदूमल सेठ ही तो ठहरे।"

कोई नशे में रंगीन छैला उसके गले से लिपट गया—"सेठजी, बस एक पेग।"

काग की सभा में बगुला-सा वृद्ध चकराया खड़ा रह गया और जबरन् उसके मुँह में ग्लास लगा दिया गया। फिर उसके बाद जो कुछ आयी, वह थी हँसी की बाढ़। नायब चुपचाप लौटा—बाहर नहीं, वरन् अन्तःपुर की ओर। और दस मिनट के बाद एक चिट लिए नौकर पहुँचा। उसने काग़ज़ के टुकड़े को बिना संकोच प्रतापी, क्रोधी प्रभु के हाथ में दिया और चुपचाप खड़ा हो गया। उस टुकड़े में मानो राजा भोज की पूरी विद्या भरी रही हो। पलभर में नवीन उठकर खड़ा हो गया—"ठहरो।"

तबलची के हाथ तबले पर अकड़-से गये, सारङ्गीवादक बाईजी के पीछे वैसा ही झुका रह गया, कुमकुम के मेंहदी रचे हाथ ऊपर को उठकर रह गये। नवीन ने पुकारकर कहा—"ठहरो—ठहरो।"

कोई ढीठ कह उठा—"ऐसे वक्त कहाँ जा रहे हो यार?"

"माताजी की आज्ञा—मुझे अभी उनसे मिलना है।"

"और इस कुमकुम की चहक को छोड़कर?"

"यदि स्वर्ग की परियाँ भी उतर आवें, तो भी मैं रुक नहीं सकता।"

वह चला गया और उसके पीछे सभा व्यंग से हँसने लगी—दबी हँसी—"माताजी की आज्ञा। हमारी बाई के पैरों पर ऐसी हज़ारों आज्ञायें न्योछावर की जा सकती हैं। वह माताजी हैं कौन-सी चीज़?"

"सरग की परी भी जब उस हुक्म को टाल नहीं सकती, तब मैं होती कौन हूँ।" रूठी बाईजी कह उठीं। "तुम—तुम हो परियों की रानी शापभ्रष्ट मेनका। सच मानो कुमकुम, यदि जहाँगीर की नूरजहाँ भी तुम्हारे सामने होती तो शर्माकर मुह फेर लेती; इस चेहरे के सामने दुनियाँ भर की ख़ूबसूरती हाथ जोड़ती है। वह कल का छोकड़ा जाने क्या!"

किन्तु इन सब बातों की ख़बर नवीन को न थी। वह तब अमला के सामने सिर नवाये खड़ा था।

"किसी बूढ़े-पुराने का अपमान, क्या मेरे जीते-जी इस घर में होने लगा?"—अमला पूछ रही थी।

"मैंने तो कुछ नहीं किया था?"

"नहीं। किन्तु तुम्हारे सामने नायबजी का अपमान किया गया है।"

"ऐसा नहीं माँ।"

"एक निष्ठावान के मुँह तक शराब का ग्लास ले जाना, हँसी-मज़ाक उड़ाना, अपमान नहीं तो इसे क्या कहते हैं ?"

"वह एक दिल्लगी थी, केवल कौतुक।"

अमला के गाम्भीर्य की आड़ में हँसी की हलकी मुस्कान झलकने लगी, जिसे देखकर नवीन आश्वस्त हुआ।

"नवीन।"

"आज्ञा।"

"घर में नृत्य-गीत आज से बन्द करना है। ज़मींदारी देखने के लिए कल से तुम्हें बाहर जाना है।"

"अच्छा।" कहकर नवीन बाहर आया। सभा नीरव थी।

"बस करो।" सभा चकित दृष्टि से उसे निहारने लगी।

"माँ की आज्ञा। यहाँ सब कुछ न होने पायेगा। यार, तुम्हीं लोगों ने तो किया, भला उस बूढ़े से दिल्लगी करने की क्या ज़रूरत थी ?"

कुमकुम तनकर खड़ी हो गयी—"घर पर बुलाकर ऐसी बेइज़्ज़ती ? आरज़ू-मिन्नतें की जाती हैं, तब मैं किसी के घर जाती हूँ।"

अवहेलना के साथ नोट का बण्डल फेंककर नवीन कहने लगा—"लो। मैं समझता हूँ इस बण्डल के नीचे बाईजी की इज़्ज़त ढँक जायगी और पार्टियों के नीचे तुम सब की। मैं कुमकुम के घर तुम सब को दावत दे रहा हूँ, रोज़ शाम को वहाँ पहुँचा करो, सब खर्च मेरा है। तुमको इनकार तो नहीं है कुमकुम ?"

सहमकर वह बोली—"किस बात की ? वह घर तो आप ही का है।"

नवीन मुस्करा पड़ा।

२

नित की भांति उस दिन भी नवीन खुशीमें मस्ताना-सा झूम रहा था हँसता, मुस्कुराता सन्ध्या की धूसर छाया में वह पत्नी के महल की ओर चल पड़ा। पहले पड़ती थी कचहरी, उसके बाद उद्यान, फिर उसका महल, बीच में दुर्गा-मन्दिर, तब पत्नी निर्मला का और सब के पीछे नौकरों का, गाड़ी, घोड़ा, मोटर आदि का घर।

नवीन कुछ लज्जित था। प्रायः छः महीने उस ओर गया नहीं। न जाने वह क्या सोचती होगी। सीधी-सादी, मीठी निर्मला अच्छी लड़की है। यदि उसमें कुछ खराबी है, तो रोने की आदत, जब देखो तब रो देना, बाहर मत जाओ, मेरे पास रहो। तो क्या मैं तोता हूँ, जो पिंजड़े में बैठा राम नाम जपता रहूँ? कभी चला गया, उसने दो मीठी बातें कर लीं, बहुत हुआ, सो नहीं। रहो—तुम मेरे पास रहो, दिन भर बैठे बातें करो। भला उससे मैं ऐसी कौन-सी बातें किया करूँ? इतनी बातें मिलें कहाँ से?—इस प्रकार सोचता-विचारता नवीन पत्नी के महल में पहुँच गया। चारों ओर सूना था, वह विस्मित हुआ। जहाँ सदा दासियों की भीड़ लगी रहती है, वहाँ यह क्यों? वह जानता था कि पत्नी की दासियाँ और महल की सभी दासियाँ काम-काज के अवसर पर निर्मला के महल में एकत्रित हो जाती हैं, तब कोई किसी की नकल उतारती है, कोई नई खबरें सुनाती है, और तब हँसी की फुलझड़ी झरने लगती है, बीच में बैठी निर्मला मुस्कुराया करती है। कभी अपने हाथ से पान बनाकर उन सब को देती है—पुरस्कार-स्वरूप।

दालान—कमरों को पार करता वह चला गया। एक पत्ती तक उसकी विस्मित दृष्टि के सामने न पड़ी। कोने के कमरे के भीतर से उसे कुछ आवाज़ भी सुन पड़ी। वह बद्ध द्वार के छिद्र की ओर कौतक-आग्रह से बढ़ गया। बीच में ऊँची चौकी पर काश्मीरी गलीचा पड़ा था और उस पर एक

युवक भस्म लगाये, रुद्राक्ष माला कण्ठ में डाले बैठा था। चहुँ ओर दासियाँ खड़ी थीं। सामने हाथ जोड़े बैठी थी निर्मला। वही—घर की अवगुण्ठिता वधू, लज्जावती लता-सी, लज्जाशीला निर्मला। सिर पर थोड़ा-सा वस्त्र रहा हो, शायद न रहा हो, केवल इतना ही नहीं, नवीन ने सुना उसकी पत्नी एक पुरुष से, उसकी तरह और एक पुरुष को नारी के वश में कर देने के लिए विनय कर रही है। और वह आसीन व्यक्ति आश्वासन दे रहा है—"माई, तू घबरा नहीं, लोटा-भर जल मैं फूंके देता हूँ और यह भस्म भी मिला देता हूँ, इसे तू पति को पिला देना। यदि इससे लाभ न हो, तो अमावस्या की रात में तू मेरी कुटिया पर चली आना, उस दिन तुझे मैं ऐसी कोई चीज़ दूँगा, जिससे पति तेरे पीछे-पीछे घूमा करेगा।"

फिर इसके बाद निर्मला के लिए दासियों का आवेदन था।

नवीन एकदम सिहर उठा—नारी का यह कैसा अधःपतन है, दीनता, भिक्षावृत्ति है। पुरुष को वश करने की यह कैसी तृष्णा, हेय प्रवृत्ति है? जिस प्रवृत्ति ने आज उस पर और उस नारी-मर्यादा, सम्मान, नारीत्व आदि सभी वस्तुओं पर जय पा ली; जिस प्रवृत्ति ने आज उसे एक पुरुष से, और एक पुरुष के प्रेम को छल, कौशल, मन्त्र के बल भिक्षा स्वरूप दान लेने में—याचना में—द्विधा मात्र न होने दी। कैसी यह सर्वग्रासी तृष्णा, बुभुक्षा और अधःपतन है? इस बात को विचार कर नवीन स्तम्भित हो गया। उसने न इसके कारण का अनुसन्धान किया, न किसी ओर झांका-ताका। वह स्थिर सिद्धान्त पर चला गया—जो कुछ वह आँख के सामने देख रहा था।

उसका स्वभाव ही ऐसा था, फिर वह करता क्या? बिलकुल सामने अपनी आँख के सामने जो कुछ देखता, केवल उसी को वह जानता—पहचानता था, वही शिशु अवस्था से। पहले-पहल उसका परिचय हुआ था एक सर्वग्रासी माता की बुभुक्षा से। जिस बुभुक्षा ने, नारी की जिस मनोवृत्ति ने

पति, आत्मीय, कुटुम्ब और समाज को तुच्छ कर, एक अंधेरी रात में अनाथ शिशु को अपने स्तन से लगा लिया था, नारी के उस मातृत्व की तृष्णा के निकट तुच्छ थी लोक-निन्दा और जाति-विचार, अस्पृश्यता।

फिर उसके बाद देखा था, पहचान हुई थी नवीन की, नारी की दास-वृत्ति से वेश्या के द्वार पर, वहाँ धूल में पड़ी लोट रही थी नारी की दास-वृत्ति, अधम दास-वृत्ति, और उस दास-वृत्ति की मरुभूमि-सी तृष्णा। वहाँ नारी को न अपनी सत्ता का विचार था, न कोई स्वतन्त्र भावना। अर्थ की क्रीत-दासी, एक गुड़िया-सी रंगी नारी की उस वृत्ति से उसकी भेंट होती चली आ रही थी और परिचय का सूत्र निबिड़ हो रहा था। आज नारी के तीसरे रूप से उसकी पहचान हो गयी—अपने ही घर के आंगन में। नारी की इस तृतीय-वृत्ति तृष्णा को देखकर नवीन दो वार की तरह तीसरी बार भी कुछ क्षण के लिए स्तब्ध हो रहा; किन्तु उसे सहमते भी देर न लगी। वह शीघ्र गति से लौटा और दूसरे कमरे में बैठ गया। चिल्लाकर पुकारने लगा।

हांफती, दौड़ती निर्मला पहुँच गयी—घबराती-सी, उत्कण्ठित सी। उस चेहरे को देखकर नवीन मुस्कराया—"घबराती क्यों हो निर्मला, बठो तो।"

निर्मला बोली—"थोड़ा-सा जलपान कर लो, कितने दिन के बाद आये हो।"

जलपान आया और चाँदी के ग्लास में शीतल जल। पानी देखकर उसे अभी-अभी का देखा दृश्य स्मरण हो आया—वही फूंका हुआ जल तो यह नहीं है? नवीन विचारने लगा—तो इसे पीकर मैं निर्मला का भृत्य बन जाऊँ? कैसे मज़े की बात है। वह ज़ोर से हँस पड़ा।

विवर्ण मुख से निर्मला ने पूछा—"हँसे क्यों? क्या बात है?" कौतुक से नवीन पानी पी गया—"यों ही। आज अच्छा फिल्म है निर्मला, दरबान के साथ चली जाना। अच्छी हो न? अच्छा तो।" गुनगुनाता हुआ नवीन चल दिया।

नवीन की सवारी मलकापुर में पहुँची। साथ में शराब के पीपे और मुसाहबों का झुण्ड एक देखने की वस्तु थी। कोई सिल्क पञ्जाबी पहने था, कोई सूट-बूट। नायब-गुमाश्ते हाथ बाँधे खड़े हो गये। कोई ग्रामीण-वधू घूँघट की आड़ से एक बार झाँकता गयी। नग्न, अर्द्धनग्न बालक चिल्लाते, उछलते-कूदते कहने लगे—"बरात आयी है—भारी बरात।"

नवीन ने किसी ओर देखा भी नहीं। झल्लाया-सा वह अपनी कचहरी में आकर बैठ गया—"इस दोपहरी में गाँव-गाँव घूमते फिरो। नायब जी, कहो, मेरे बिना तुम्हारा कौन-सा काम अटका था?"

कर्मचारी-गण खाता-बही लेकर बैठ गये। वादी-प्रतिवादी की भीड़ लग गयी। सभी अपनी-अपनी कथा सुनाने में व्यस्त थे। सन्ध्या हो चली, किन्तु तब भी नवीन के गले में बूँद भर ब्राण्डी न पड़ने पायी।

वह कह उठा—"बाढ़ और सूखा मैं नहीं जानता, जो कोई लगान न दे सके उसे पेड़ से कसकर कोड़े लगाओ, फिर भी न दे तो ज़मीन, गाय, बैल जो कुछ मिले, ज़ब्त कर लो।"

ग्राम में हाहाकार मच गया—यह शोणित-पिपासु, नर-राक्षस कहाँ से आ गया? कर्मचारी सिहर उठे। ऐसे ही समय धीरे-धीरे कचहरी में आकर खड़ी हो गयी जानकी, दुःख, दैन्य की जीवित चित्र-सी। उसे देखकर लगता कि कभी एक दिन वह भारी रूपसी थी, किन्तु अब ये बड़ी, खिंची हुई आँखें निष्प्रभ हो रही थीं, सिर के बाल तेल के बिना नारियल की जटा से हो रहे थे। लज्जा निवारण के लिए एक साबुत वस्त्र तक अंग पर नहीं था। न रुपया, न यौवन। था मात्र रूप का एक गलित शव।

नवीन के घर जाने के पल में एक दुर्ग्रह की भाँति सामने अड़ गयी जानकी। कहने लगी—"यदि मेरी अकेली की बात होती, तो चुपचाप सब कुछ सह लेती। दुनियाँ के सामने एक शब्द भी न निकालती; घर में जो कुछ

देखकर आयी हूँ, उसके बाद चुप रहना सम्भव नहीं। एक ओर भूखे-प्यासे पति की आँखें निकल पड़ी हैं, अधमरे से पड़े हैं, कौन जाने—अभीतक-शायद... दूसरी ओर बहू-बेटा, बच्चे घास चबाने में लगे हैं। तीन दिन से अन्न का कण भी किसी के पेट में नहीं गया। बेटा नवीन, मैं कहाँ तक कहूँ? कई वर्ष से इसी क्षुधा, अभाव से द्वन्द्व चल रहा है, इस पर यदि तुम्हारे नौकर खेत से अनाज ढो लें, तो हम बारह आदमी की हत्या तुम्हीं पर चढ़ेगी।" बेटा नवीन? एक दरिद्र स्त्री उसे बेटा कहे? मारे क्रोध के नवीन काँप उठा। मुसाहबों की आँखों में खून उतर आया। वे सब कहने लगे—"अरी चुड़ैल, किसे बेटा कहती है? नाम लेकर किसे पुकारती है? जानती है ये कौन हैं?"

स्त्री तनकर खड़ी हो गयी। उसके सूखे नेत्र दीप्त हो उठे—"क्या माँ अपने बच्चे को नहीं पहचानती? मेरा ही लड़का और मैं न पहचानूँ? कौन-सा ऐसा महीना था जिस महीने में मैं अपने बच्चे को देख न आती थी और अब तक देखा नहीं करती? दुनियाँ की दृष्टि में वह रामसोहन का लड़का है, जमींदार है, धनवान है, किंतु मेरी छाती के भीतर तो वह—मेरा ही खून, तीन घण्टे का पैदा हुआ शिशु, वही नवीन है न? उस दिन उसे तीन घण्टे तो पैदा हुए, हुए ही थे, जब मैं उठती-बैठती, बड़ी मुश्किल से उसे राम-भवन के द्वार पर रख गयी थी और पेड़ तले बैठकर बच्चे को पहरा दे रही थी। दुनियाँ क्या समझेगी कि उस समय माँ के हृदय में कैसा तूफ़ान उठा हुआ था। वह क्या समझेगी कि किस अभाव, किस परिस्थिति में पड़कर, सन्तान के कौन-से शुभ भविष्य-सुख की कौन-सी आशा से मुग्ध होकर, माता को अपने हाथों अपनी सन्तान को पराया कर देना पड़ जाता है? नहीं, वह इन सब बातों को नहीं समझ सकती। कौन सी असहाय, निरुपाय अवस्था माता को इस अवस्था तक खींच ला सकती है, इसे दुनियाँ नहीं समझ सकती है भैया।"

"तो क्या इतने दिन के बाद आज तुम दुनियाँ के सामने उस बात को जताने आयी हो? तब तो सभी भिखमंगी मेरी माँ-बहन होने को दौड़ेंगी।

केशो, सुन रहे हो न ?" नवीन ने कहा। केशो लपका—"चल, दूर हो यहाँ से। अच्छा नाटक रचा है। सिनेमा कम्पनी में चली जाओ, अच्छा इनाम मिलेगा।" नवीन ने रोका—"ज़रा ठहरो। न सही, यहाँ एक यही दिल्लगी रही।"—उसे एक कौतुक-सा लग रहा था—नारी का अब कौन-सा रहस्य, कौन-सा रूप, कौन-सी वृत्ति सामने आनेवाली है ?

उस व्यंग-परिहास से शायद एक बार जानकी विचलित हो उठी और फिर शान्त स्वर से बोली—"नहीं, मैं जताने नहीं आयी हूँ। केवल कहने आयी हूँ—मेरे खेतों का अनाज मेरे बच्चों के लिए छोड़ दिया जावे।"

"यह बात मैं कभी सोच भी नहीं सकता, कि कोई माँ अपने बच्चे को पराया कह सकती है। माना कि तुम सच कह रही हो, किन्तु इसका प्रमाण क्या है ?"

"प्रमाण की ज़रूरत तो नहीं है बेटा, और न मैं प्रमाण के लिए व्यस्त ही हूँ।" जानकी धीरे-धीरे चली गयी।

नवीन ज़ोर से हँसने जाकर भी गम्भीर हो उठा। वह विचारने लगा—इस चौथी बार नारी किस पहेली, किस मनोवृत्ति से आयी? अपत्य-स्नेह, त्याग की यह कैसी वृत्ति, कैसी तृष्णा है? वह ऐसी कौन-सी त्यागवृत्ति है, कैसा उसका भयानक या मोहक रूप है, जिससे कि वह सन्तान को लुटा देने में भी पीछे नहीं हटती।

सब लोग जानकी को झूठी कहकर परिहास करने में लगे थे, केवल नवीन पल-पल में गम्भीर होता जा रहा था, उस बात को झूठ जानकर भी।

२

"माँ, क्या मैं तुम्हारा लड़का नहीं हूँ? वह कहती थी, तुम मेरी गर्भ-धारिणी नहीं हो।"

अमला भय-आतंक से सिहर उठी—"ऐसा कौन कहता था?"

"जानकी कहती थी—वह मेरी माँ है।"

"उसे निकाल दे नवीन, गाँव से, किसी दिन मेरे भैया को, मेरे लाल को निगल बैठेगी। निकाल दे—निकाल दे।" अमला काँप रही थी, नवीन हँस पड़ा—नारी की यह कैसी ईर्ष्यावृत्ति है? जिसे वह चाहती है, अपना समझती है, उसे वह अपना ही बनाये रक्खेगी, उस पर किसी दूसरे का अधिकार जताना तक वह नहीं सह सकती है और न वह अपने स्नेह-पात्र को किसी के स्नेह की छाया में देख ही सकती है। नवीन विचारने लगा—यह कैसी सर्वग्रासी ईर्ष्या, क्षुधा है?

उधर अमला के नेत्र क्रोध, ईर्ष्या से काले-से पड़ रहे थे—"ऐसी सरद्दी! मेरे बेटे को वह भिखारिन कहे उसका है? अभी, इसी वक्त उसे गाँव से निकाल दो।"

"बहुत ग़रीब है माँ। निकाल देने से घर-का-घर भूखा मरेगा।"

"उसे कल मरना है, तो आज मरे।"

"किसी के कहने से मैं पराया थोड़े ही हो जाऊँगा। तुम्हारा हूँ—तुम्हारा ही रहूँगा—ज़रा देख रहा था—तुम क्या कहती हो। भला, वह भिखारिन कुछ कह सकती है?"

गृहिणी हँसी, शान्त स्वर से बोली—"वही मैं सोच रही थी। वह कहती कैसे? बेचारी, ग़रीब जानकी। उसके बच्चे भूखे मर रहे हैं? अभी गुमाश्ते से कहती हूँ, उसका कर माफ़ कर दिया जावे, खाने को भी भिजवा दूँगी। जैसे उसके बच्चे, वैसे मेरे।" मुस्कुराता, चुटकी बजाता नवीन बाहर निकल गया।

दिन का प्रकाश तब म्लान न हो पाया था। कुमकुम के द्वार पर मोटर लगी और नवीन अपनी मित्रमण्डली सहित उतर पड़ा।

साज-श्रृंगार किये कुमकुम रूठी बैठी थी। उसने मुँह फेरे-फेरे उनका स्वागत किया, बैठे सब!

कालीचरण कह उठा—"बाईजियों की सरताज, आज नाराज़ क्यों हो?"

"मेरी ख़ुशी-नाराज़ी से क्या होता है?"

"नहीं। ऐसा मत कहो कुमकुम! तुम तो नवीन के प्राण हो, दो दिन आना नहीं हुआ, तो देखो सूखकर काँटा हो गया है।"

"तुम्हारे कहने से क्या होता है नीरू बाबू, वे तो अब यहाँ आना पसन्द नहीं करते। वह दिन गये, जब दिन रात दरवाज़े पर मोटर भनभनाया करती थी। पूछिये उनसे।" वचन शेषकर कुमकुम रूठकर बैठ गयी, कदाचित् मानभञ्जन की आशा से। उन भलेमानसों के सामने यदि वह नवीन जैसे धन-कुबेर से मानभञ्जन कराना चाहे, और यदि अपने रूप-यौवन को कसौटी पर चढ़ाना चाहे, उसका मूल्य निर्द्धारित करना चाहे, तो इसमें हँसने की कौनसी बात है? वह बैठ गयी रूठकर, अभिमान से ज़रा घूमकर, जाली के दुपट्टे को सामने से बिलकुल हटाकर।

किन्तु वैसा कुछ न हो पाया वरन् हो गया उसका उल्टा। नवीन ज़रा मुस्कराया। बोला—"तुम्हारा कहना बिलकुल ठीक है कुमकुम। तुम्हारे पास अब मेरा जी नहीं लगता। क्या जानूँ कि ऐसी जल्दी तुम पुरानी हो जाओगी।"

अपमान का यह कैसा कुत्सित, रुक्ष, उलंग रूप है? अपमान, लज्जा से वेश्या कुमकुम तिलमिला उठी—"मैं पूछती हूँ, मेरे घर बैठे मुझे ही अपमान करने का अधिकार तुम्हें किसने दिया?"

"तुमने कुमकुम, यह घर तो तुमने मेरा कहा था न। क्या भूल गयीं?" परम निश्चिन्तता से नवीन कहने लगा—"तुम पूछ रही थीं; तो मैंने सच-सच कह दिया।"

"अच्छा किया। अब तुम मेरे घर से जा सकते हो।"

"मैं भी यही सोच रहा था।" किन्तु नवीन ने उठने की चेष्टा मात्र न की, उपरान्त कहने लगा—"अरे भाई, कोफ़्ता तो मँगवाओ, उसके बिना ह्विस्की फीकी लगती है।"

द्वार पर मोटर भनभनाने लगी, बूढ़ी अम्मा बबराती सी पहुँचीं। इशारे से कुमकुम से कुछ कहा। और कुमकुम वहीं पर बैठी-बैठी बोली—"सेठजी आये हैं अम्मा? तो उन्हें यहीं लिवा लाओ।" एक बार उसने अवहेलना से नवीन को देखा, फिर उठकर खड़ी हुई। नवीन हँसा—"ज़रा मेरी भी दो बातें सुन लो कुमकुम। सेठजी को यह घर मुबारक हो। फिर यों कहो कि अकेला मैं ही नहीं, तुम भी मुझ से ऊब गयी थीं और दो ही दिन के भीतर सेठजी को भी इस घर में बुलाने लगी थीं। मुझे अब बिदा दे दो। अपनी एक पहचान तुम्हें देता हूँ।"

वेलवेट का बक्स था, जिसे नवीन ने वृद्धा के हाथ पर रख दिया। आग्रह से वृद्धा ने डब्बा खोला, हीरे का नेकलेस था। हीरों की ज्योति से कुमकुम की आँखें स्तिमित हो रहीं। बूढ़ी के नेत्र सम्भ्रम से नत हुए और मित्रों ने प्रशंसा का पुल-सा बांध दिया; कहने लगे—"क्यों न हो, नवीन बाबू अमीर कैसे हैं, दस हज़ार का नेकलेस देना क्या सेठ-साहूकार का काम है?"

बूढ़ी चकरा गयी—"बिदा कैसी बेटा, यह घर तुम्हारा है, और कुमकुम तुम्हारी लौंडी है। सेठ-साहूकारों की गुञ्जाइश यहाँ न होगी।"

"वह तो कहती थीं, यहाँ मेरा कुछ भी अधिकार नहीं है।"

"मज़ाल उसकी जो वह ऐसी कहे, क्यों री?"

"नहीं अम्मा, तुम सेठजी को जाने के लिए कह दो।"

नवीन दबी हँसी हँसता वहाँ जमकर बैठ गया।

४

एक बड़े मकान के उजेले कमरे में नवीन बैठा शराब पी रहा था और

एक स्त्री सामने बैठी उसके ग्लास में शराब भर रही थी। उस मकान के प्रायः सब कमरों से हँसी, सङ्गीत, शराबी का चीत्कार सुनाई पड़ रहा था।

नवीन बोला—"चमेली, जूही क्या नाम है तुम्हारा। चम्पा? तो चम्पा, सच ही तुम बड़ी अच्छी हो, उसे तुम जानती हो, कुमकुम को? उससे मेरा जी ऊब गया था। वह पुरानी हो गयी थी। परन्तु तुम घबरा क्यों रही हो, बार-बार घड़ी क्यों देखती हो?"

"घड़ी देख रही थी।"

"सो तो मैं भी देख रहा हूँ, किन्तु क्यों?"

"बारह बजे मुझे छुट्टी मिलेगी न?"

"क्या तुम मुझसे ऊब गयी? और ऐसी जल्दी?"

वह चुप रही।

"बोलो चम्पा।"

बारह की घण्टी बोली, वह उठकर खड़ी हो गयी—"अब मेरी छुट्टी हो गयी।"

वही छुट्टीवाली बात नवीन झुझला पड़ा—"कहो, छुट्टी के लिए तुम अधीर क्यों हो रही हो? दूसरी स्त्रियाँ तो ऐसा नहीं करतीं, उनकी तो कोशिश रहती है केवल बाँधने की, भागने की नहीं।"

असहाय दृष्टि से उसने नवीन को देखा और कहने लगी—"घर में बच्चा बीमार पड़ा है, एक ही है। न जाने अब तक...तो मुझे छुट्टी दे दो।" उसके नेत्र आर्द्र हो उठे।

"ऐसी दशा में तुम आयी क्यों?"

स्त्री का स्वर रोने-सा लगा—"पैसों के लिए। इन पैसों से उसकी दवा

लाऊँगी, दो दिन भी तो उसे फल दे सकूँगी। लोग कहते हैं—तपेदिक में आदमी बचते नहीं। झूठ बात है, मेरा बच्चा खाने के बिना मर रहा है। मैं उसे जिलाऊँगी, उसकी रक्षा करूँगी।" अधीर गति से वह चली गयी और उस उन्मुक्त द्वार के प्रति विस्मय से नवीन देखता रह गया,—वात्सल्य-स्नेह का यह कैसा रूप है? वह बैठा विचारने लगा और शराब पीने लगा।

मकानवाली वृद्धा आयी, पूछा—"आराम से तो हैं न आप? और कुछ ज़रूरत है?"

"है। वह चली गयी।"

"अभी मैं दूसरी को भेजे देती हूँ।"

इस बार जो स्त्री आयी वह अनुपम सुन्दरी थी। नवीन मुग्ध-विस्मय से तरुणी को देखने लगा।

उसने मुस्कुरा कर मुँह फेर लिया—"क्या देखते हो?"

"तुम्हें। नहीं, तुम कभी पुरानी होगी नहीं। ज़रा यहाँ आकर बैठो। तुम कहाँ रहती हो?"

"यह घर मेरा है और वह बूढ़ी मेरी अम्मा हैं, मैं हसीना हूँ।"

"और दूसरी सब?"

"सब किरायेदारिन हैं।"

"अभी तक तुम आयी क्यों न थीं?"

"तुमने बुलाया कहाँ था?"

इठलाकर उसने नवीन के गले में बाँह डाल दी। ठीक उसी पल में बाणविद्ध कुरंगिनी-सी भय-विवर्णा एक युवती कमरे में घुस आयी। उसकी रूप-शिखा से जैसे घर के कोने-कोने में आतुर चाँदनी लोट पड़ी। रूप—रूप,

ऐसा रूप ? आकुल विस्मय से नवीन उसे देखता ही रह जाता, यदि उसके पीछे एक युवक और वही बूढ़ी दौड़ी न चली आती। उन्हें देखकर युवती चिल्ला उठी—"मेरी रक्षा करो भैया, इन दानवों के हाथ से मेरे नारीत्व को बचाओ। कुम्भ के मेले में नानी के साथ आयी थी, वह दबकर मर गयी। यह बूढ़ी डायन मुझे जगह देने के बहाने यहाँ लिवा लायी है, और अब—"

पीछे से बूढ़ी ने उसके बाल पकड़कर खींचे और उसका साथी युवक झूमता, हँसता उसकी ओर बढ़ा।

"बचा लो भैया, बहन की इज़्ज़त बचा लो।"

एक पल। बस दूसरे ही पल नवीन उस युवक पर टूट पड़ा। उसे ज़मीन में पटक कर छाती पर बैठ गया, उसकी जीभ बाहर निकल आयी और श्वास भी शायद रुक गया।

"खून—खून!" बूढ़ी और उसकी बेटी चिल्लाने लगी। नवीन उठा और युवती को लेकर चल पड़ा।

नवीन माँ के सामने पहुँचा—"माँ यह एक अनाथ लड़की है। भले घर की क्वारी लड़की है। वेश्या के घर से इसे लूट लाया हूँ। उस एक पल के लिए चाहे मैं रामकृष्ण परमहंस, राम, कृष्ण का अवतार क्यों न हो गया होऊँ, और एक छोटे पल में उस अवतार से मेरी भेंट क्यों न हो गयी हो, किन्तु फिर भी मैं तुम्हारा दुराचारी, लम्पट लड़का वही नवीन हूँ न? किसी एक छोटे पल के लिए वह फिर भी कभी कोई अवतार बन बैठे, तो न तुम ही कह सकती, न मैं और न दुनियाँ ही, किन्तु फिर भी मैं हूँ तो वही मद्यप, चरित्रहीन नवीन। कौन जाने किस पल में वह कौन-सा शुभ या अशुभ कर्म कर बैठे। उस लम्पट का विश्वास ही क्या? जहाँ तक जल्दी हो सके, इस लड़की को ठिकाने पर पहुँचा देना।"



मनोवैज्ञानिक कहानियाँ

चतुरसेन शास्त्री

भगवती प्रसाद वाजपेयी

जैनेन्द्र

श्री चतुरसेन शास्त्री

जन्म—१८८१ ई०　　　　　　　　　　जन्म स्थान—दिल्ली

रचना—१२१४ ई०　　　　　　　　　　पेशा—वैद्य

श्री चतुरसेन शास्त्री सफल वैद्य हैं। 'संजीवन फार्मसी' नाम से दिल्ली में आपका प्रसिद्ध औषधालय है। आपने वैद्यक के ग्रन्थ भी लिखे हैं। लिखने का क्रम बहुत पहले से रहा है। मगर साहित्य क्षेत्र में आप १९२० के क़रीब चमके। लोगों ने अचरज से आपकी ओर देखा।

आपका तीखा प्रवाह, ओजमयी व मुहावरेदार भाषा और चोट करनेवाली कला, आपको साहित्यकारों में बहुत ऊँचा स्थान दिलाती है। मुर्दा इतिहास को या मामूली नज़रन्दाज़ की जा सकनेवाली घटना को लेकर आपने जैसी कहानियाँ लिखी हैं, वह अचंभे में डाल देती हैं। नज़्ज़ारा हू-ब-हू आँखों के सामने खड़ा हो जाता है। इसलिए आपकी लौह-लेखनी का लोहा सब को मान लेना पड़ता है। आपकी कहानियों में 'दुखवा मैं कासे कहूँ', 'फूलवालों की सैल' 'ख़ूनी' 'पानवाली'— वग़ैरह अमर कहानियाँ हैं—जिन्हें कोई भी साहित्य या भाषा का प्रेमी अपने साहित्य का गौरव समझ सकता है। इसके अलावा

आप सिद्धहस्त उपन्यास व नाटक लेखक भी हैं। हिन्दी में गद्य-काव्य के तो आप जन्मदाता ही हैं।

आपकी यह दुखान्त कहानी भी मनोविज्ञान के तार में भावनाओं के फूलों को गूंथ कर बनायी गयी है। कहानी खतम कर एक बार कलेजा थाम लेना पड़ता है। एक मामूली सी ग़लतफ़हमी की वजह सलीमा को जान से हाथ धोना पड़ा और बादशाह शाहजहाँ को शायद ज़िन्दगी भर मलाल रहा।

शास्त्रीजी ने बहुत कुछ लिखा है। मगर आपकी साहित्यिक रचनाएँ भी कम नहीं हैं।

उपन्यास—हृदय की प्यास, हृदय की परख, अमर अभिलाषा।

कहानी-संग्रह—अक्षत, रजकण।

नाटक—अमर राठौर, उत्सर्ग।

गद्य-काव्य—अन्तस्तल, अंतिम संदेश।

राजनैतिक—बनाम-स्वदेश, पराजित गान्धी आदि।



"दुखवा मैं कासे कहूँ......."

१

गर्मी के दिन थे। बादशाह ने उसी फागुन में सलीमा से नयी शादी की थी। सल्तनत के सब झंझटों से दूर रहकर नयी दुलहिन के साथ प्रेम और आनन्द की कलोल करने वह सलीमा को लेकर काश्मीर के दौलतख़ाने में चले आये थे।

रात दूध में नहा रही थी। दूर के पहाड़ों की चोटियाँ बर्फ़ से सफ़ेद होकर चाँदनी में बहार दिखा रही थीं। आराम-बाग के महलों के नीचे पहाड़ी नदी, बल खाकर बह रही थी।

मोतीमहल के एक कमरे में शमादान जल रहा था, और उसकी खुली खिड़की के पास बैठी सलीमा रात का सौंदर्य निहार रही थी। खुले हुए बाल उसकी फीरोज़ी रंग की ओढ़नी पर खेल रहे थे। चिकन के काम से सजी और

मोतियों से गुंथी हुई उस फीरोज़ी रंग की ओढ़नी पर, कसी हुई कमख़ाब की कुरती और पन्नों की कमरपेटी पर अंगूर के बराबर बड़े मोतियों की माला झूम रही थी। सलीमा का रंग भी मोती के समान था। उसकी देह की गठन निराली थी। संगमरमर के समान पैरों में ज़री के काम के जूते पड़े थे, जिन पर दो हीरे धक्-धक् चमक रहे थे।

कमरे में एक कीमती ईरानी कालीन का फ़र्श बिछा हुआ था, जो पैर रखते ही हाथ भर नीचे धँस जाता था। सुगन्धित मसालों से बने हुए शमादान जल रहे थे। कमरे में चार पूरे क़द के आईने लगे थे। संगमरमर के आधारों पर, सोने-चाँदी के फूलदानों में ताज़े फूलों के गुलदस्ते रखे थे। दीवारों और दरवाज़ों पर चतुराई से गूँथी हुई नागकेसर और चंपे की मालायें झूल रही थीं, जिनकी सुगन्ध से कमरा महक रहा था। कमरे में अनगिनत बहुमूल्य कारीगरी की, देश-विदेश की वस्तुएँ क़रीने से सजी हुई थीं।

बादशाह दो दिन से शिकार को गये थे। आज इतनी रात हुई, अभी-तक नहीं आये। सलीमा चाँदनी में दूर तक आँख बिछाये सवारों की गर्द देखती रही। आख़िर उससे स्थिर न रहा गया। वह खिड़की से उठकर, अनमनी-सी होकर मसनद पर आ बैठी। उम्र और चिन्ता की गर्मी जब उससे सहन न हुई, तब उसने अपनी चिकन की ओढ़नी भी उतार फेंकी और आप-ही-आप झुंझुलाकर बोली—"कुछ भी अच्छा नहीं लगता। अब क्या करूँ?" इसके बाद उसने पास रखी बीन उठा ली। दो-चार उँगली चलाई; मगर स्वर न मिला! उसने भुनभुनाकर कहा—"मर्दों की तरह यह भी वश में नहीं है।" सलीमा ने उकताकर उसे रखकर दस्तक दी। एक बाँदी दस्त-बस्ता हाज़िर हुई।

बाँदी अत्यन्त सुन्दरी और कमसिन थी। उसके सौंदर्य में एक गहरे विषाद की रेखा और नेत्रों में नैराश्य की स्याही थी। उसे पास बैठने का हुक्म देकर सलीमा ने कहा—"साक़ी, तुझे बीन अच्छी लगती है या बाँसुरी?"

बाँदी ने कहा—"हुज़ूर जिसमें ख़ुश हों"

सलीमा ने कहा—"पर तू किसमें ख़ुश है?"

बाँदी ने कंपित स्वर में कहा—"सरकार बाँदियों की ख़ुशी ही क्या?"

क्षण भर सलीमा ने बाँदी के मुँह की तरफ़ देखा—वैसा ही विषाद, निराशा और व्याकुलता का मिश्रण हो रहा था।

सलीमा ने कहा—"मैं क्या तुझे बाँदी की नज़र से देखती हूँ?"

"नहीं, हुज़ूर की तो लौंडी पर ख़ास मेहरबानी है।"

"तब तू इतनी उदास, झिझकी हुई और एकांत में क्यों रहती है? जब से तू नौकर हुई है, ऐसी ही देखती हूँ! अपनी तकलीफ़ मुझसे तो कह प्यारी साक़ी!"

इतना कहकर सलीमा ने उसके पास खिसककर उसका हाथ पकड़ लिया।

बाँदी काँप गयी; पर बोली नहीं।

सलीमा ने कहा—"कम्बख़्त! तू अपना दर्द मुझसे कह, तू इतनी उदास क्यों रहती है?"

बाँदी ने कंपित स्वर से कहा—"हुज़ूर क्यों इतनी उदास रहती हैं?"

सलीमा ने कहा—"इधर जहाँपनाह कुछ कम आने लगे हैं। इसी से तबीयत ज़रा उदास रहती है।"

बाँदी—"सरकार! प्यारी चीज़ न मिलने से इंसान को उदासी आ ही जाती है। अमीर और ग़रीब सभी का दिल तो दिल ही है।"

सलीमा हँसी। उसने कहा—"समझी, तब तू किसी को चाहती है? मुझे उसका नाम बता, मैं उसके साथ तेरी शादी करा दूँगी।

साक़ी का सिर घूम गया। एकाएक उसने बेगम की आँखों से आंख मिलाकर कहा-- "मैं आपको चाहती हूँ!"

सलीमा हँसते-हँसते लोट गयी। उस मदमाती हँसी के वेग में उसने बाँदी का कंपन नहीं देखा। बाँदी ने बंशी लेकर कहा --"क्या सुनाऊँ?"

बेगम ने कहा—"ठहर, कमरा बहुत गर्म मालूम देता है। इसके तमाम दरवाज़े और खिड़कियाँ खोल दे। चिरागों को बुझा दे, चटख़ती चांदनी का लुत्फ़ उठाने दे और वे फूल-मालाएँ मेरे पास रख दे।"

बाँदी उठी। सलीमा बोली—"सुन, पहले एक ग्लास शरबत दे, बहुत प्यासी हूँ।"

बाँदी ने सोने के ग्लास में ख़ुशबूदार शरबत बेगम के सामने ला धरा। बेगम ने कहा—"उफ़, यह तो बहुत गर्म है। क्या इसमें गुलाब नहीं दिया?"

बाँदी ने नम्रता से कहा—"दिया तो है सरकार!"

"अच्छा इसमें थोड़ा सा इस्तंबोल और मिला!"

साक़ी गिलास लेकर दूसरे कमरे में चली गयी। इस्तंबोल मिलाया, और भी एक चीज़ मिलायी। फिर वह सुवासित मदिरा का पात्र बेगम के सामने ला धरा।

एक ही साँस में उसे पीकर बेगम ने कहा—"अच्छा, अब सुना। तूने कहा था कि तू मुझे प्यार करती है; सुना, कोई प्यार का ही गाना सुना।"

इतना कह और ग्लास को गलीचे पर लुढ़काकर मदमाती सलीमा उस कोमल मखमली मसनद पर खुद भी लुढ़क गयी, और रस-भरे नेत्रों से साक़ी की ओर देखने लगी। साक़ी ने वंशी का सुर मिलाकर गाना शुरू किया—

"दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी—"

बहुत देर तक साक़ी की वंशी और कण्ठ-ध्वनि कमरे में घूम घूमकर रोती रही। धीरे-धीरे साक़ी ख़ुद रोने लगी। साक़ी मदिरा और यौवन के नशे में चूर होकर झूमने लगी।

गीत ख़त्म करके साक़ी ने देखा, सलीमा बेसुध पड़ी है। शराब की तेज़ी से उसके गाल एकदम सुर्ख़ हो गये हैं, और तांबूल-राग-रंजित होंठ रह-रहकर फड़क रहे हैं। साँस की सुगन्ध से कमरा महक रहा है। जैसे मंद-पवन से कोमल पत्ती काँपने लगती है, उसी प्रकार सलीमा का वक्षःस्थल धीरे-धीरे काँप रहा है। प्रस्वेद की बूँदें ललाट पर दीपक के उज्ज्वल प्रकाश में मोतियों की तरह चमक रही हैं।

वंशी रखकर साक़ी क्षण-भर बेगम के पास आकर खड़ी हुई। उसका शरीर काँपा; आँखें जलने लगीं, कण्ठ सूख गया। वह घुटने के बल बैठकर बहुत धीरे-धीरे अपने आँचल से बेगम के मुख का पसीना पोंछने लगी। इसके बाद उसने झुककर बेगम का मुँह चूम लिया।

फिर ज्यों ही उसने अचानक आँख उठाकर देखा, ख़ुद दीन-दुनियाँ के मालिक शाहजहाँ खड़े उसकी यह करतूत अचरज और क्रोध से देख रहे हैं।

साक़ी को साँप डस गया। वह हत-बुद्धि की तरह बादशाह का मुँह ताकने लगी। बादशाह ने कहा—"तू कौन है? और यह क्या कर रही थी?"

साक़ी चुप खड़ी रही। बादशाह ने कहा—"जवाब दे!"

साक़ी ने धीमे स्वर में कहा—"जहाँपनाह! कनीज़ अगर कुछ जवाब न दे, तो?"

बादशाह सन्नाटे में आ गये। बाँदी की इतनी स्पर्धा!

उन्होंने कहा—"मेरी बात का जवाब नहीं? अच्छा, तुझे नंगी करके कोड़े लगाये जायँगे!"

साक़ी ने अकंपित स्वर में कहा—“मैं मर्द हूँ!”

बादशाह की आँखों में सरसों फूल उठी। उन्होंने अग्निमय नेत्रों से सलीमा की ओर देखा। वह बेसुध पड़ी सो रही थी। उसी तरह उसका भरा यौवन खुला पड़ा था। उसके मुँह से निकला—“उफ़! फ़ाहशा” और तत्काल उनका हाथ तलवार की मूठ पर गया। फिर उन्होंने कहा—“दोज़ख के कुत्ते। तेरी यह मज़ाल?”

फिर कठोर स्वर से पुकारा—“मादूम”

क्षण भर में एक भयंकर रूपवाली तातारी औरत बादशाह के सामने अदब से आ खड़ी हुई। बादशाह ने हुकुम दिया—“इस मर्दूद को तहख़ाने में डाल दे; ताकि बिना खाये-पिये मर जाय।”

मादूम ने अपने कर्कश हाथों से युवक का हाथ पकड़ा, और ले चली। थोड़ी देर में दोनों एक लोहे के मज़बूत दरवाज़े के पास आ खड़े हुए। तातारी बाँदी ने चाबी निकाल दरवाज़ा खोला, और क़ैदी को भीतर ढकेल दिया। कोठरी की गच, क़ैदी का बोझ ऊपर पड़ते ही काँपती हुई नीचे को धसकने लगी।

२

प्रभात हुआ। सलीमा की बेहोशी दूर हुई। चौंककर उठ बैठी। बाल संवारे, ओढ़नी ठीक की, और चोली बे-बटन कसने को आईने के सामने जा खड़ी हुई। खिड़कियाँ बंद थीं। सलीमा ने पुकारा—“साक़ी! प्यारी साक़ी! बड़ी गर्मी है, ज़रा खिड़की तो खोल दे। निगोड़ी नींद ने तो आज ग़ज़ब ढा दिया। शराब कुछ तेज़ थी।”

किसीने सलीमा की बात न सुनी। सलीमा ने ज़रा ज़ोर से पुकारा—“साक़ी।”

जवाब न पाकर सलीमा हैरान हुई। वह ख़ुद खिड़की खोलने लगी।

मगर खिड़कियाँ बाहर से बंद थीं। सलीमा ने विस्मय से मन ही मन कहा–"क्या बात है? लौंडियाँ सब क्या हुई?"

वह द्वार की तरफ़ चली। देखा, एक तातारी बाँदी नंगी तलवार लिये पहरे पर मुस्तैद खड़ी है। बेगम को देखते ही उसने सिर झुका लिया।

सलीमा ने क्रोध से कहा—"तुम लोग यहाँ क्यों हो?"

"बादशाह के हुक्म से"

"क्या बादशाह आ गये?"

"जी हाँ"

"मुझे इत्तिला क्यों नहीं की ?

"हुक्म नहीं था।"

"बादशाह कहाँ हैं?"

"ज़ीनतमहल के दौलतखाने में"

सलीमा के मन में अभिमान हुआ। उसने कहा—"ठीक है, खूबसूरती की हाट में जिनका कारबार है वे मुहब्बत को क्या समझेंगे? तो अब ज़ीनत-महल की किस्मत खुली?"

तातारी स्त्री चुपचाप खड़ी रही। सलीमा फिर बोली—"मेरी साक़ी कहाँ है?"

"क़ैद में"

"क्यों?"

"जहाँपनाह का हुक्म"

"उसका क़सूर क्या था ?"

"मैं अर्ज़ नहीं कर सकती ?"

"कैदख़ाने की चाबी मुझे दे, मैं अभी उसे छुड़ाती हूँ।"

"आपको अपने कमरे से बाहर जाने का हुक्म नहीं है।"

"तब क्या मैं भी क़ैद हूँ ?"

"जी हाँ।"

सलीमा की आँखों में आँसू भर आए। वह लौटकर मसनद पर पड़ गयी, और फूट-फूटकर रोने लगी, कुछ ठहर कर उसने एक ख़त लिखा—

"हुज़ूर! मेरा क़सूर माफ़ फ़रमावें। दिन भर की थकी होने से बेसुध सो गयी कि हुज़ूर के इस्तक़बाल में हाज़िर न रह सकी। और मेरी उस प्यारी लौंडी की भी जाँ-बख़्शी की जाय। उसने हुज़ूर के दौलतख़ाने में लौट आने की इत्तिला मुझे वाज़िबी तौर पर न देकर बेशक भारी क़सूर किया है; मगर वह नयी, कमसिन, ग़रीब और दुखिया है!

कनीज़—

सलीमा"

चिट्ठी बादशाह के पास भेज दी गयी। बादशाह की तबीयत बहुत ही नासाज़ थी। तमाम हिन्दुस्तान के बादशाह की औरत फ़ाहशा निकले! बादशाह अपनी आँखों से परपुरुष को उसका मुँह चूमते देख चुके थे। वह गुस्से से तलमला रहे थे, और ग़म-ग़लत करने को अंधाधुंध शराब पी रहे थे। ज़ीनतमहल मौक़ा देखकर सौतिया डाह का बुख़ार निकाल रही थी। तातारी बाँदी को देखकर बादशाह ने आग होकर कहा—"क्या लायी है ?"

बाँदी ने दस्तबस्ता अर्ज़ की—"ख़ुदावंद! सलीमा बीबी की अर्ज़ी है।"

इतना कहकर उसने सामने ख़त रख दिया।

बादशाह ने गुस्से से होंठ चबाकर कहा—"उससे कह दे कि मर

जाय।" इसके बाद ख़त में एक ठोकर मारकर उन्होंने उधर से मुँह फेर लिया।

बाँदी लौट आयी। बादशाह का जवाब सुनकर सलीमा धरती पर बैठ गयी। उसने बाँदी को बाहर जाने का हुक्म दिया, और दरवाज़ा बँद करके फूट-फूटकर रोयी। घंटों बीत गये, दिन छिपने लगा। सलीमा ने कहा—"हाय! बादशाहों की बेगम होना भी क्या बदनसीबी है! इंतज़ारी करते-करते आँखें फूट जायँ, मिन्नतें करते-करते ज़बान घिस जाय, अदब करते-करते जिस्म टुकड़े-टुकड़े हो जाय, फिर भी इतनी-सी बात पर कि मैं ज़रा सो गयी, उनके आने पर जाग न सकी, इतनी सज़ा? इतनी बेइज़्ज़ती?

"तब मैं बेगम क्या हुई? ज़ीनत और बाँदियाँ सुनेंगी तो क्या कहेंगी? इस बेइज़्ज़ती के बाद मुँह दिखाने लायक़ कहाँ रही? अब तो मरना ही ठीक है। अफ़सोस! मैं किसी ग़रीब किसान की औरत क्यों न हुई!"

धीरे धीरे स्त्रीत्व का तेज उसकी आत्मा में उदय हुआ। गर्व और दृढ़ प्रतिज्ञा के चिह्न उसके नेत्रों में छा गये। वह साँपिन की तरह चपेट खाकर उठ खड़ी हुई। उसने एक और ख़त लिखा—

"दुनियाँ के मालिक! आपकी बीबी और कनीज़ होने की वजह से मैं आपके हुक्म को मानकर मरती हूँ। इतनी बेइज़्ज़ती पाकर एक मल्का का मरना मुनासिब भी है। मगर इतने बड़े बादशाह को, औरतों को इस कदर नाचीज़ तो न समझना चाहिए कि एक अदना-सी बेवकूफ़ी की इतनी कड़ी सज़ा दी जाय। मेरा कुसूर सिर्फ़ इतना ही था कि मैं बेख़बर सो गयी थी। ख़ैर, सिर्फ़ एक बार हुज़ूर को देखने की ख़्वाहिश लेकर मरती हूँ। मैं उस पाक परवरदिगार के पास जाकर अर्ज़ करूँगी कि वह मेरे शौहर को सलामत रखे।

सलीमा"

ख़त को इत्र से सुवासित करके ताजे फूलों के एक गुलदस्ते में इस तरह रख दिया कि जिससे किसी की उस पर फ़ौरन ही नज़र पड़ जाय। इसके बाद उसने जवाहरात की पेटी से एक बहुमूल्य अंगूठी निकाली, और कुछ देर तक आँखें गड़ा-गड़ाकर उसे देखती रही। फिर उसे चाट गयी।

३

बादशाह शाम की हवाख़ोरी को नज़र-बाग में टहल रहे थे। दो-तीन खोजे घबराये हुए आये, और चिट्ठी पेश करके अर्ज़ की—"हुज़ूर, गज़ब हो गया। सलीमा बीबी ने ज़हर खा लिया है, और वह मर रही हैं।"

क्षण-भर में बादशाह ने ख़त पढ़ लिया। झपटे हुए सलीमा के महल में पहुँचे। प्यारी दुलहिन सलीमा ज़मीन में पड़ी है। आँखें ललाट पर चढ़ गयी हैं। रंग कोयले के समान हो गया है। बादशाह से रहा न गया। उन्होंने घबराकर कहा—"हकीम, हकीम को बुलाओ!" कई आदमी दौड़े।

बादशाह का शब्द सुनकर सलीमा ने उनकी तरफ़ देखा, और धीमे स्वर में कहा—"ज़हे किस्मत!"

बादशाह ने नज़दीक बैठकर कहा—"सलीमा! बादशाह की बेग़म होकर क्या तुम्हें यही लाज़िम था?"

सलीमा ने कष्ट से कहा—"हुज़ूर मेरा क़सूर बहुत मामूली था।"

बादशाह ने कड़े स्वर में कहा—"बदनसीब! शाही ज़नान-ख़ाने में मर्द को भेष बदलकर रखना मामूली क़सूर समझती है? कानों पर यक़ीन कभी न करता; मगर आँखों देखी को भी झूठ मान लूँ?"

जैसे हज़ारों बिच्छुओं के एक साथ डंक मारने से आदमी तड़पता है, उसी तरह तड़पकर सलीमा ने कहा—"क्या?"

बादशाह डरकर पीछे हट गये। उन्होंने कहा—"सच कहो, इस वक्त तुम ख़ुदा की राह पर हो, वह जवान कौन था?"

सलीमा ने अकचकाकर पूछा—"कौन जवान?"

बादशाह ने गुस्से कहा—"जिसे तुमने साक़ी बनाकर पास रक्खा था?"

सलीमा ने घबराकर कहा—"हैं! क्या वह मर्द है?"

बादशाह—"तो क्या तुम सचमुच यह बात नहीं जानतीं?"

सलीमा के मुह से निकला—"या खुदा!"

फिर उसके नेत्रों से आँसू बहने लगे। वह सब मामला समझ गयी। कुछ देर बाद बोली—"ख़ाविन्द! तब तो कुछ शिकायत ही नहीं; इस क़सूर की तो यही सज़ा मुनासिब थी। मेरी बदगुमानी माफ़ फ़रमायी जाय। मैं अल्लाह के नाम पर पड़ी कहती हूँ। मुझे इस बात का कुछ भी पता नहीं है।"

बादशाह का गला भर आया। उन्होंने कहा—"तो प्यारी सलीमा! तुम बेक़सूर ही चली?" बादशाह रोने लगे।

सलीमा ने उनका हाथ पकड़ कर अपनी छाती पर रखकर कहा—"मालिक मेरे! जिसकी उम्मीद न थी, मरते वक्त वह मज़ा मिल गया। कहा-सुना माफ़ हो, और एक अर्ज़ लौंडी की मंज़ूर हो!"

बादशाह ने कहा—"जल्दी कहो सलीमा!"

सलीमा ने साहस से कहा—"उस जवान को माफ़ कर देना।"

इसके बाद सलीमा की आँखों से आँसू बह चले और थोड़ी देर में ठण्डी हो गयी!

बादशाह ने घुटनों के बल बैठकर उसका ललाट चूमा, और फिर बालक की तरह रोने लगे।

४

गज़ब के अंधेरे और सर्दी में युवक भूखा-प्यासा पड़ा था। एकाएक घोर चीत्कार करके किवाड़ खुले। प्रकाश के साथ ही एक गंभीर शब्द तहखाने में भर गया—"बदनसीब नौजवान! क्या होश-हवास में है?"

युवक ने तीव्र स्वर में पूछा—"कौन?"

जवाब मिला—"बादशाह।"

युवक ने कुछ भी अदब किये बिना कहा—"यह जगह बादशाहों के लायक़ नहीं है—क्यों तशरीफ़ लाये हैं?"

"तुम्हारी कैफ़ियत नहीं सुनी थी, उसे सुनने आया हूँ।"

कुछ देर चुप रहकर युवक ने कहा—"सिर्फ़ सलीमा को झूठी बदनामी से बचाने के लिए कैफ़ियत देता हूँ। सुनिए—सलीमा जब बच्ची थी, मैं उसके बाप का नौकर था। तभी से मैं उसे प्यार करता था। सलीमा भी प्यार करती थी; पर वह बचपन का प्यार था। उम्र होने पर सलीमा परदे में रहने लगी, और फिर वह शाहंशाह की बेगम हुई। मगर मैं उसे भूल न सका। पाँच साल तक पागल की तरह भटकता रहा। अन्त में भेष बदल कर बाँदी की नौकरी कर ली। सिर्फ़ उसे देखते रहने और ख़िदमत करके दिन गुज़ार देने का इरादा था। उस दिन उज्ज्वल चाँदनी, सुगंधित पुष्पराशि, शराब की उत्तेजना और एकान्त ने मुझे बेबस कर दिया। उसके बाद मैंने आँचल से उसके मुख का पसीना पोंछा, और मुँह चूम लिया। मैं इतना ही क़सूरवार हूँ। सलीमा इसकी बाबत कुछ नहीं जानती।"

बादशाह कुछ देर चुपचाप खड़े रहे। इसके बाद वह बिना दरवाज़ा बन्द किये ही धीरे धीरे चले गये।

५

सलीमा की मृत्यु को दस दिन बीत गये। बादशाह सलीमा के कमरे में ही दिन-रात रहते हैं। सामने नदी के उस पार पेड़ों के झुरमुट में सलीमा की सफ़ेद क़ब्र बनी है। जिस खिड़की के पास सलीमा बैठी उस रात को बादशाह की प्रतीक्षा कर रही थी, उसी खिड़की में, उसी चौकी पर बैठे हुए बादशाह उसी तरह सलीमा की क़ब्र दिन रात देखा करते हैं। किसी को पास आने का हुक्म नहीं। जब आधी रात हो जाती है, तो उस गंभीर रात्रि के सन्नाटे में एक मर्म-भेदिनी गीत-ध्वनि उठ खड़ी होती है। बादशाह साफ़-साफ़ सुनते हैं, कोई करुण-कोमल स्वर में गा रहा है—

"दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी?"



श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी

जन्म—१८९९ ई०
रचना—१९२४ ई०

जन्म-स्थान—मंगलापुर (कानपुर)
निवास—दारागंज, प्रयाग
पेशा—लिखना

श्री वाजपेयीजी ने लड़कपन से अब तक ज़िन्दगी के सब पहलुओं को—ऊँच नीच—देखा है। मामूली गृहस्थ के घर पैदा हुए। संस्कृत की छत्र-छाया में बचपन बीता। स्कूलों में मिडिल तक शिक्षा पाई। प्राइमरी स्कूल के शिक्षक बने। मगर इतने मे संतोष न हुआ तो, निश्चित को छोड़ अनिश्चित की ओर बढ़े। कानपुर में लाइब्रेरियन बने। अध्ययन का चस्का लगा और फिर तो हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के मंत्री-पद तक पहुँचे। साहित्य सेवा ही आपका एक-मात्र व्यवसाय है।

आपने क़रीब तीन सौ कहानियाँ लिखी हैं। इसके अलावा उपन्यास, नाटक, कविताएँ, बालोपयोगी साहित्य भी रचा है। उपन्यासों में 'पतिता की साधना' और 'पिपासा' ने काफ़ी सम्मान पाया है।

आपकी रचनाओं में सामाजिक मसलों पर विचार तो है ही; मगर विशेष प्रयत्न मनोविज्ञान और सेक्स की गुत्थियाँ सुलझाने

की ओर ही है। भाषा आपकी मँजी हुई है, मगर कहानी कहने का ढंग ढीला-ढाला है, जिससे निर्वाह उतना सुन्दर नहीं हुआ है। कहानी का कलेवर कहीं कहीं ज़रूरत से ज़्यादा बढ़ जाता है, जिससे पाठक का कौतूहल नष्ट हो जाता है। "नाविक के तीर" वाला गुण कहानी में न हो तो वह शिथिल हो ही जाती है। वह दोष आपमें कहीं कहीं पाया जाता है।

'निंदिया लागी....' कहानी हिन्दी की सर्वोत्तम कहानियों में एक है। पत्ती या पतिया उस वर्ग की युवती है जिस वर्ग के प्रति हम संशय और हृदय-हीनता, फलस्वरूप कटुता बरत रहे हैं। इस कहानी में उसी कटु-सत्य की ओर इशारा है। पतिया जैसी के प्रति हम आकर्षित होते हैं तो उसके रूप और यौवन को देखकर, मगर उसके दुख-दर्द से बिल्कुल अनभिज्ञ से रहते हैं। उसके प्रति सहानुभूति हममें पैदा नहीं होती। कहानी का कथानक सीधा-सादा है, मगर उसकी भूमिका बहुत भारी हो गयी है—दार्शनिकता की वजह। इसमें बेनी बाबू का चरित्र एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन है और इसका 'मैं' (कहनेवाला)—एक भावुक युवक—पाठक की सहानुभूति प्राप्त करने का साधन। पत्ती एक प्रतिनिधि मात्र है ग़रीब, मज़दूर, स्त्री की। उसका स्पष्ट रूप हमारे सामने नहीं आता है।—कहानी पाठक के दिल पर एक असर छोड़ती है, बस यही सफलता है।

रचानाएँ—

कहानी संग्रह—मधुपर्क, दीपमालिका, हिलोर, पुष्करिणी, खाली बोतल, कला की दृष्टि, मेरे सपने, ज्वार भाटा और लता कुंज।

उपन्यास—प्रेम पथ, मीठो चुटकी, अनाथ पत्नी, त्यागमयी, लालिमा, प्रेम-निर्वाह, पिपासा, पतिता की साधना, दो बहनें निमंत्रण और नवीन अध्याय।

नाटक—छलना और ओस के बूँद।



" निदिया लागी.... "

कालेज से लौटते समय मैं अक्सर अपने नये बँगले को देखता हुआ घर आया करता। उन दिनों वह तैयार हो रहा था। एक ओवरसियर साहब रोज़ाना, सुबह-शाम, देख-रेख के लिए आ जाते थे। वे मझले-भैयाके सहपाठी मित्रों में से थे। लंबा क़द, गौर वर्ण, लंबी नाक—खूबसूरत और मुख पर उल्लास का अभिनव आलोक। गंभीर भी होते, तो प्रायः मालूम यही होता कि मुसकरा रहे हैं।

नाम उनका बेनीमाधव था। और अवस्था? अवस्था उनकी अब पैंतालीस वर्ष से ऊपर जान पड़ती थी। मिस्त्री और मज़दूर, सब मिलाकर, कोई पचीस-तीस व्यक्ति काम कर रहे थे। मज़दूरों में कुछ स्त्रियाँ भी थीं।

एक दिन मैंने देखा, छत कूटी जा रही है। कूटनेवालों में स्त्रियाँ ही हैं, अधिकांश रूप से। दो पुरुष भी हैं; लेकिन वे ज़रा हटकर, एक कोने में हैं।

स्त्रियाँ छत कूटती हुई एक गाना गा रही हैं। यों उनका गायन कुछ विशेष मधुर नहीं है; किन्तु अनेक सम्मिलित स्वरों के बीच में एक अत्यन्त कोमल स्वर भी है। तभी मैं उनके पास जाने को तत्पर हो गया। मुझे देखना था कि वह जो गाना गा रही है और जिसका कंठ इतना मधुर है, उसका रूप भी कुछ है या नहीं। मैं मानता हूँ कि यह मेरी दुर्बलता थी; किन्तु उन दिनों मेरी समझ में यह बात कैसे आती।

एकाएक पहले तो ओवरसियर साहब सामने आ गये। बोले—आ गये छोटे भैया!

मैंने उनकी ओर देखकर ज़रा-सा मुसकरा दिया और कहा—जान तो मुझेभी ऐसा ही पड़ता है।

हँसते हुए उन्होंने तब कहा—लेकिन दर-असल आप आये नहीं। आप समझते हैं कि दुनियाँ की नज़रों में जो आप यहाँ मौजूद हैं, इतने से ही मैं यह मान लूँ कि आप पूरे सोलह आने भर आ गये हैं? और जो कहीं आप अपना 'कुछ' छोड़ आये हों, तो?

वे तब इतना कहते-कहते मेरे निकट—बिलकुल निकट आ गये। बोले—जब मैं अपने इंजीनियरिंग कालेज में पढ़ता था, तब मैं कैसा था, सच जानिए, आपको देखकर जब मुझे उसकी याद आ जाती है, तो जी मसोसने लगता है। तबीयत चाहती है कि अपने को क्या कर डालूँ, जिससे कुछ शान्ति मिले। लेकिन फिर यही सोचकर सन्तोष कर लेता हूँ कि मनुष्य की तृष्णा का अन्त नहीं है। न आकाश में, न महासागर के अतल में, न गिरि-गह्वर में—संसार में कहीं भी, कोई ऐसा स्थान नहीं मिल सकता, जहाँ पहुँचकर मनुष्य कामना से मुक्त हो सके।

बेनीबाबू के मुख पर अगमनीय गंभीरता की छाप थी, यद्यपि अपने विमल हास से वे उसे छिपाना चाहते थे। मैंने कहा—आप मेरे अध्ययन की चीज़ हैं, यह मुझे आज मालूम हुआ।

एक ओर चलते हुए वे बोले--अभी आपको कुछ भी नहीं मालूम हुआ है।

किन्तु बेनीबाबू की इतनी-सी बात से मेरे मन का कुतूहल अभी शान्त नहीं हो पाया था, इसलिए मैं उनके पीछे पीछे चल दिया।

घूमते, काम देखते हुए, एक मिस्त्री के पास जाकर वे खड़े हो गये। वह आर्च (Arch) बनाने जा रहा था। बोले—देखो जी मिस्त्री, पत्तियाँ और फूल बनाना ही काफ़ी नहीं है। टहनी और उसमें उभड़े हुए काँटे भी दिखाने होते हैं। माना कि नक़ल नक़ल है, असल चीज़ वह कभी हो नहीं सकती; किन्तु असल चीज़ की जो असलियत है, गुण के साथ दुर्गुण भी, नक़ल में यदि उसको स्पष्ट न किया जा सका, तो वह नक़ल भी नक़ल नहीं हो सकती। बनाने में तुमको अगर दिक़्क़त हो, तो मैं नमूना दे जा सकता हूँ, लेकिन मेरी तबीयत की चीज़ अगर तुम न बना सके, तो मैं कह नहीं सकता कि आगे चलकर तुम्हें उसका क्या फल भोगना पड़ेगा।

मिस्त्री वृद्ध था। उसके बाल पक गये थे। उसकी आँखों पर पुरानी चाल का चश्मा चढ़ा हुआ था। बड़े गौर से वह बेनीबाबू की ओर देखने लगा। लेकिन उसने कुछ कहा नहीं। तब बेनीबाबू वहाँ और अधिक ठहर न सके।

अब वे आँगन में एक टब के पास खड़े थे। नल का पानी टब में गिर रहा था। मैं थोड़ा पीछे था। जब उनके निकट पहुँचा, तो वे बोले—आपने इस मिस्त्री की आँखों को देखा? वह कुछ कह नहीं सका था; लेकिन उसकी आँखों ने जो बात कह दी, मैं उसे सहन नहीं कर सका। वह समझता है, मैंने फल भोगने की बात कहके उसको चोट पहुँचाने, उसका अपमान करने, की चेष्टा की है; किन्तु वह नहीं जानता, जान भी नहीं सकता, कि मेरी बात का कोई उत्तर न देकर उसने मुझ पर कैसा भयंकर आघात किया है। एक वह नहीं, मालूम नहीं, कितने आदमी आपको ऐसे मिल सकते हैं जो मुझे ग़लत समझते हैं। आज पन्द्रह वर्षों से, बल्कि और भी अधिक काल से, मुझे

जहाँ-कहीं भी मकान बनवाने का काम पड़ा है, मैंने इस मिस्त्री को अवश्य बुलाया है। मैंने काम के सम्बन्ध में कभी-कभी तो उसे इतना डाँटा है कि वह रो दिया है, तो भी कभी ऐसा अवसर नहीं आया कि उसने मुझे तीखा उत्तर दिया हो। उसका वही पुराना चश्मा है, वैसी ही भीतर तक प्रविष्ट हो जानेवाली आँखें। उसने कभी मज़दूरी मुझसे तय नहीं की। और कभी ऐसा अवसर नहीं आया, जब काम समाप्त हो जाने पर, मज़दूरी के अतिरिक्त उसने दस-पन्द्रह रुपये पुरस्कार में न प्राप्त किये हों···किन्तु इन सब बातों को अच्छी तरह समझते हुए भी डाँटना तो पड़ता ही है, क्योंकि उससे कला-कार की सुप्त कल्पना को जागरण मिलता है।

अब बेनीबाबू घूमते-फिरते वहीं जा पहुँचे, जहाँ स्त्रियाँ छत कूट रही थीं। एकाएक जो उन्होंने हैटधारी हम लोगों को देखा, तो उनका गाना बन्द हो गया। तब मेरे मन में आया कि इससे तो यही अच्छा था कि हम लोग यहाँ न आते। और कुछ नहीं, तो संगीत का वह मृदुल स्वर तो कानों में पड़ता। और वह संगीत भी कैसा?—एकदम असाधारण। उसकी टेक तो कभी भूल ही नहीं सकती। जैसी नन्हीं, वैसी ही भोली!—

"निंदिया लागी—मैं सोय गयी गुइयाँ!"

बेनीबाबू ने खड़े-खड़े इधर-उधर देखा और कहा—देखो इधर, इस तरह नहीं पीटना होता कि चोटों की आवाज़ का सिलसिला बिगड़ जाय। मुगरी की आवाज़ें, सारी-की-सारी एकबारगी, एक साथ, होनी चाहिए। और देखो, आज इस छत की पिटाई का काम खतम हो जाना चाहिए।

रामलखन बोला—सरकार, आज कैसे पूरा होगा? दिन ही कितना रह गया है!

"बको मत रामलखन! काम नहीं पूरा होगा, तो पैसा भी पूरा नहीं होगा। समझते हो न? काम का ही दूसरा नाम पैसा है।"

रामलखन चुप रह गया।

बेनीबाबू भी चल दिये। लेकिन चलने के साथ ही पिटाई की आवाज़ें, उनकी धमक, उनकी गति और चूड़ियों की खनक और 'निंदिया लागी' का स्वर अतिशय गंभीर हो गया। मैंने बेनीबाबू से कहा—आप काम लेना ख़ूब जानते हैं।

वे हँसते-हँसते बोले—मैं जानता बहुत-कुछ हूँ छोटे-भैया, लेकिन जानना ही काफ़ी नहीं होता। ज्ञान से भी बढ़कर जो वस्तु है, उसको भी तो जानना होता है। और उसे मैं अभी तक जान नहीं सका।

मैंने पूछ दिया—वह क्या?

वे बोले—सत्य का ग्रहण।

मैंने कहा—सिर्फ़ पहेली न कहिए, उसे समझाते भी चलिए।

वे तब एक पेड़ के नीचे, सड़क पर ही एक ओर, कुर्सियाँ डलवाकर, बैठ गये और बोले—ये स्त्रियाँ, जो यहाँ मज़दूरी करने आयी हैं, कितने सबेरे घर से चली हैं और कब पहुँचेंगी! कोई घर में अपने बच्चों को छोड़ आयी है, किसी का पति खेत में काम करने गया होगा। किसी के कोई होगा ही नहीं। और काम करते-करते उनको अगर उनकी सुधि आ ही जाती है और काम की गति में क्षणिक मन्दता उत्पन्न हो ही उठती है, तो वह भी आज की हमारी इस सामाजिक व्यवस्था को सहन नहीं है। और तारीफ़ यह है कि हम समझ लेते हैं कि हम बड़े ज्ञानी हैं। हम यही देखकर सन्तोष कर लेते हैं कि जो स्त्री यहाँ पर मज़दूरी कर रही है, हमको सिर्फ़ उसी से मतलब है, उसी की मज़दूरी हम दे रहे हैं; किन्तु हम यह सोचने की ज़रूरत ही नहीं समझते कि वह स्त्री अपने जगत् को लेकर क्या है। जो बच्चा उसने उत्पन्न किया है, वह भी तो अपने पालन-पोषण का भार अपनी माँ पर रखता है; पर हम

लोग वहाँ तक सोचना ही नहीं चाहते। हमारे स्वार्थों ने सत्य को कितनी निरंकुशता के साथ दबा रखा है!

बेनीबाबू चुप हो गये। एक ओर खुले अम्बर में, विहंगावलियाँ, अपने पंखों को फैलाये, नितान्त निर्बन्ध, हँसी-खुशी के साथ, उड़ी चली जा रही थीं। एक साथ हम दोनों उधर देखने लगे। किन्तु बराबर उधर देखने के बदले मैंने एक बार फिर बेनीबाबू को ही देखा। उनके मस्तक के ऊपर चँदोवा खुल आया था! उसमें नन्हें-नन्हें एक आध बाल ही अवशिष्ट थे। वे अब सांध्य आलोक में चमक रहे थे। उनकी खुली आँखें यद्यपि चश्मे के भीतर थीं, तो भी मुझे प्रतीत हुआ, जैसे वे कुछ और भी फैल गयी हैं। इसी क्षण वे बोले—अब यह काम और आगे न करूँगा। लेकिन···।

उनका यह वाक्य अधूरा रह गया। जान पड़ा, वे कोई निश्चय कर रहे हैं और रुक रुक जाते हैं। रुक इसलिए नहीं जाते कि रुकना चाहते हैं। रुक इसलिए जाते हैं कि रुकना नहीं चाहते।

तभी वे फिर बोले—तुम उस बात को अभी समझ नहीं सकोगे; लेकिन ऐसी बात नहीं है कि उस बात के समझने की तुम्हारी क्षमता कुन्द है। देखता हूँ, तुम विचारशील हो। और तभी मैं कहना भी चाहता हूँ कि आदमी तो अपने विश्वासों को लेकर खड़ा है; लेकिन जो आदमी अपने विश्वासों को लेकर भी नहीं खड़ा होता, वह भी क्या आदमी है? वह आदमी नहीं है। वह पशु है—पशु। लेकिन कैसे कहूँ कि पशु भी अपने विश्वासों के विरुद्ध खड़ा हो सकनेवाला प्राणी है! वह तो···वह तो बल्कि अपनी प्रवृत्तियों का ही स्वरूप होता है। और यह मनुष्य? छिः! इससे भी अधम क्या कोई स्थिति है!

मैंने देखा, यह वातावरण तो अब अतिशय गंभीर हो गया है! और उन दिनों इस तरह की निरी गंभीरता मुझे ज़रा कम पसन्द आती थी;

बल्कि साथी लोग जब ऐसे व्यक्तियों का मज़ाक उड़ाते, तो उस दल में मैं भी सम्मिलित हो जाया करता था। बात यह थी कि उस समय एक दूसरा दृष्टिकोण हम लोगों के सामने रहता था। हम सब यही मानते थे कि जीवन तो एक हँसी-खेल की चीज़ है। सर्वथा अनिश्चित और चरम अकल्पित जीवन के थोड़े-से दिनों को रोना रोने, या सोच-विचार में निपीड़ित-निर्जीव कर डालने में कौन-सी महत्ता है?

इसीलिए मैंने कह दिया—इन लोगों के गाने में बीच का यह—हाँ, यह स्वर मुझे बड़ा कोमल लगता है।

निमेष-मात्र में, सम्यक् बदलकर—

"जाओ, नज़दीक से जाकर सुन आओ। हैट यहीं रख जाओ। फिर भी अगर वे गाना बन्द कर दें, तो कहना—काम में हर्ज नहीं होना चाहिए; क्योंकि गाने के साथ छत कूटने का काम अधिक अच्छा होता है; ऐसा मैं सुनता आया हूँ।" बेनीबाबू ने मुसकराते हुए कहा।

मैं चला गया। चुपचाप—बहुत धीरे-धीरे, पैर सम्हाल-सम्हालकर। तो भी उनको मालूम हो ही गया। काम की गति में कुछ तीव्रता ज़रूर जान पड़ी, किन्तु गाना बन्द हो गया।

मैंने कहा—तुम लोगों ने गाना क्यों बन्द कर दिया?

खिलखिल के कुछ मदिर कलहास! कभी इधर—कभी उधर।

किसी ने अपनी सखी से कहा इसे ज़रा-सा धक्का-देकर—गा री पत्ती, चुप क्यों हो गयी?

"तू ही क्यों नहीं गाती? छोटे भैया के सामने..."

"हूँ, बड़ी लाजवन्ती बनी है! जैसे दुलहे का मुँह ही न देखा हो!"

मैंने कहना चाहा—लड़ो मत। मैं चला जाता हूँ। लेकिन मैं कुछ कह न सका। चुपचाप चला आया।

चला तो आया; किन्तु उस खिलखिल और सामने गाने से लजानेवाली उस पत्ती को मैंने फिर देखने की चेष्टा नहीं की।

कैसे उल्लास के साथ आया था; किन्तु कैसा भीषण द्वन्द्व लेकर चल दिया!

बेनीबाबू ने बड़े प्यार से पूछा—कह जाओ।

मैंने कहा—क्या कह जाऊँ? वही बात हुई। उन लोगों ने गाना बन्द कर दिया।

"फिर तुमने वह बात नहीं कही।"

"उसे मैं कह नहीं सका।"

"तो यह कहो कि तुम खुद ही लजा गये!"

मैं चुप रहा। जिसने कभी चोरी नहीं की, जो यह भी नहीं जानता कि चोरी की कैसे जाती है, वह चीज़ क्या है, यदि वह कभी उसके दलदल में पड़ जायगा, तो उससे सफ़ाई के साथ निकल ही कैसे सकेगा? वह तो निश्चयपूर्वक फँस जायगा। वही गति मेरी हुई। क्या मैं जानता था कि बेनीबाबू मुझे ऐसी जगह ले जायँगे, जहाँ पहुँचकर फिर मुक्ति का कोई मार्ग ही दृष्टिगत न होगा?

बेनीबाबू बोले—अच्छा, एक काम कर आओ। रामलखन से कहना, अगर आज यह काम किसी तरह पूरा होता न दीख पड़े, तो कल ही पूरा कर डालना ठीक होगा। बेनीबाबू से मैंने कह दिया है कि मज़दूरों से उतना ही काम लिया जाय, जितना वे कर सकें।

मैं उनकी ओर देखता रह गया। मेरे मन में आया—यह आदमी है कि देवता।

मुझे अवाक् देखकर उन्होंने पूछा—सोचते क्या हो?

मैंने कहा—कुछ नहीं। इतने दिन से आपका परिचय प्राप्त है; किन्तु कभी ऐसा अवसर नहीं आया कि आपको इतने निकट से देख पाता।

वे बोले—यह सब कोई चीज़ नहीं है छोटे-भैया! न्याय और सत्य से हम कितने दूर रहते हैं, शायद हम ख़ुद नहीं जानते। ...अच्छा जाओ, जो काम तुम्हें दिया गया है, उसको पूरा तो कर आओ।

मैं फिर उसी छत पर जा पहुँचा; पर अब की बार मैंने देखा, गान चल रहा है। लेकिन एक ही गाना तो दिन-भर चल नहीं सकता। तो भी मुझे उसी गाने के सुनने की इच्छा हो आयी। साथ ही मैंने यह भी सोच लिया कि अभी कुछ समय पहले बेनीबाबू ने कहा था, मनुष्य की भावनाओं का अन्त नहीं है।

मैंने जो रामलखन को बुलाया, तो वह सिटपिटा गया। बोला—छोटे सरकार, क्या हुक्म है?

मैंने कहा—बेनीबाबू क्या तुम लोगों के साथ कुछ ज़्यादा सख़्ती से काम लेते हैं?

वह चुप ही बना रहा, सत्य-कृष्ण कुछ भी नहीं कह सका। तब मैंने समझ लिया, डर के कारण वह उनके विरुद्ध कुछ कहना नहीं चाहता, इसी लिए चुप है; लेकिन जब मैंने कहा—मैं उनसे कुछ कहूँगा नहीं। मैं तो सिर्फ़ असल बात जानना चाहता हूँ। बिलकुल निडर होकर बतलाओ।

तब उसने कहा—काम सख़्ती से लेते हैं, तो मज़दूरी भी तो दो पैसा ज़्यादा और वक़्त पर देते हैं। ऐसे मालिक मिलें, तो मैं तो ज़िन्दगी-भर उनकी गुलामी करूँ।

मैंने कहा—तुम ठीक कहते हो। उन्होंने मुझसे कहला भेजा है कि अगर काम आज नहीं पूरा होता है, तो कल ही पूरा कर डालना। ज़्यादा तकलीफ़ उठाने की ज़रूरत नहीं है।

रामलखन बोला—पर छोटे भैया, उन्होंने पहले ही बहुत सोच-समझ-कर हुक्म दिया था। काम अगर आज पूरा न होता, तो कूटने के लिए चूना कल हम लोगों को इस हालत में न मिलता। वह सूख जाता। तब उस पर कुटाई ठीक तरह से कैसे होती? इसके सिवा कल गुड़ियों का त्यौहार है, छुट्टी का दिन है। मैंने पीछे जो सोचा, तो मुझे इन सब बातों का ख़्याल आ गया। काम पूरा हो जायगा। बहुत-कुछ तो हो भी गया है। थोड़ा-सा ही बाक़ी रह गया है। वह भी शाम होते-होते पूरा हो जायगा। तकलीफ़ तो थोड़ी हुई—किसी-किसी के हाथों में छाले पड़ गये; लेकिन यह बात आप उनसे जाकर न कहें सरकार, इतनी बात मेरी भी रख लें।

रामलखन की बात मानकर सचमुच मैंने बेनीबाबू से यह नहीं कहा कि कुछ स्त्रियों के हाथों में छाले पड़ गये हैं।

किन्तु उसी दिन, सायंकाल।

एक ओर जीने की दीवार गिर गयी। छुट्टी हो गयी थी, मज़दूर लोग इधर-उधर से आ-आकर जाने लगे थे कि अ र र र धम का भीषण स्वर और एक क्षीण 'आह'!

लोग दौड़ पड़े। लोग गिने भी गये। सब मिलाकर उनतीस आदमी आज काम पर थे; लेकिन हैं केवल सत्ताईस!

तो दो आदमी दब गये, क्या?

हाँ, यह हल्का स्वर जो आ रहा है! यह! यह!

ईंटें उठाई जाने लगीं, तो एक स्त्री ने कहा—हाय! पत्ती है—पत्ती।

तभी मैं सोच रही थी—वह दीख नहीं पड़ती, शायद आगे निकल गयी! हाय यह तो चल बसी!

उससे कौन कहता कि हाँ, वह आगे निकल गयी!

लेकिन एक क्षीण स्वर तब भी ध्वनित होता रहा!

अरे—और उठाओ ईंटों को। हाँ, इस खंजड़ को। अभी एक आदमी और भी तो है।

एक साथ कई आदमियों ने मिलकर एक दीवार के टुकड़े को उठाया। वह ईंटों के ऊपर गिरा था और बीच में थोड़ी जगह शेष रह गयी थी। उसी में मुड़ा हुआ अचेत मिला गिरिधर!

कुछ दिनों में गिरिधर अच्छा हो गया। उसकी एक रीढ़ टूट गयी थी; लेकिन उसका जीवन रीढ़ से अधिक बलिष्ट जो था।

उस बँगले को, फिर आगे, बेनीबाबू नहीं बनवा सके। कुछ दिनों तक काम बन्द रहा और वे बीमार पड़ गये।

मनुष्य का यह जीवन क्या इतना अस्थिर है! क्या वह फूल के दल से भी अधिक मृदुल है? क्या वह छुई-मुई है? उन दिनों मैं यही सोचता रहा था। वे बीमार थे, और उनकी बीमारी बढ़ती जाती थी। मैं देख रहा था, शायद बेनीबाबू तैयारी कर रहे हैं! लेकिन एक दिन मैंने उन्हें दूसरे रूप में देखा। मैंने देखा कि मृत्यु को उन्होंने मसल डाला है, पीस डाला है! वह छटपटा रही है! वह भाग जाना चाहती है!

वे एक पलँग पर लेटे हुए थे, बहुत धीरे-धीरे बातें कर रहे थे। उनके पास एक नौजवान बैठा हुआ था। वह मौन था, और बेनीबाबू उससे कुछ पूछ रहे थे। उसी क्षण मैं पहुँच गया। वे उठने को हुए, तो नौकर ने उन्हें उठा दिया और उनके पीछे तकिये लगा दिये। पहले आँखों पर चश्मा नहीं था; अब उन्होंने चश्मा चढ़ा लिया।

संकेत पाकर मैं उनके पास ही कुरसी डालकर बैठ गया था।

वे बोले—सुनते हो मुल्लू, मैं तुमको रोने नहीं दूँगा। रोने दूँ, तो मैं अपने को खो दूँगा। लेकिन मैं इतना सस्ता नहीं हूँ। मैं मरना नहीं चाहता, इसीलिए मैं तुमको प्रसन्न देखना चाहता हूँ। बतलाओ, तुम किस तरह से प्रसन्न हो सकते हो? मैं और साफ़ कर दूँ? मैं तुमको कुछ देना चाहता हूँ। बोलो, तुम कितने रुपये पाकर ख़ुश हो सकते हो? लेकिन तुम यह सोचने की भूल न करना कि वे रुपये तुम्हारी स्त्री की क़ीमत हैं! एक स्त्री—एक नवयुवती, एक सुन्दरी को, क्या रुपयों से मोल लिया जा सकता है? छिः यह तो एक मूर्खता की बात है—जंगलीपन की। लेकिन मैंने अभी तुमको बतलाया न, मैं तुमको ख़ुश करना चाहता हूँ।

—ओह "एक नवयुवती—एक सुन्दरी!"

—तो क्या पत्नी सुन्दर थी?

—तो उसका कंठ ही कोमल न था; वरन्...

बेनीबाबू बोले—मैं जानता हूँ, तुम कुछ कहोगे नहीं। अच्छा, तो मैं ही कह देता हूँ—उसके बच्चे की परवरिश के लिए, दस रुपये हर महीने मुझसे बराबर ले जाया करना। समझे!...यह लो दस रुपये! आज पहली तारीख़ है। हर महीने की पहली तारीख को ले जाया करना।

जेब से नोट निकालकर उन्होंने मुल्लू के आगे फेंक दिया। मुल्लू तब कितना ख़ुश था, इसको मैंने जाना। किन्तु बेनीबाबू ने जितना कुछ जाना, उसको मैं न जान सका।

मुल्लू जब छलकते आनन्दाश्रुओं के साथ चल दिया, तो बेनी बाबू बोले—मेरा ख़याल है, अब यह ख़ुश रहेगा। क्यों? तुम क्या सोचते हो?

मैं चकित था, प्रतिहत था, अभिभूत भी था, तो भी मैंने कह दिया—आपने यह क्या किया?

"ओह तुम मुझसे पूछते हो, छोटे भैया!—यह क्या किया! यह मैंने अपने को भुलाने के लिए किया है; क्योंकि मनुष्य अपने को भुलावे में रखने का अभ्यासी है! मैंने देखा—मैं एक भूल कर रहा हूँ! मैं मृत्यु को बुला रहा हूँ। तब मैंने सोचा—मैं ऐसी भूल करूँगा, जिसमें अपने-आपको भी मैं भुला सकूँ! जीवन में एक ऐसा क्षण भी आता है, जब हमको अपने-आपको भुलाना पड़ता है! यह मेरा ऐसा ही क्षण है। लेकिन यह मेरी भूल नहीं है। यह तो मेरा नवजीवन है—जागरण।

* * * *

यह कथा यहीं समाप्त हो गयी है; किन्तु इस कथा के प्राण में जो अन्तर्कथा है, उसी की बात कहता हूँ। उपर्युक्त घटना के पीछे कुछ वत्सर और जुड़ गये हैं। यह बँगला अब मुझे रहने के लिए दिया गया है। मैं अब अकेला ही इसमें रहता हूँ। कई सहस्र पुस्तकों के महत् ज्ञान से आवृत मैं—लोग कहते हैं—प्रोफ़ेसर हूँ! जीवन और जगत् का तत्त्वदर्शी। लेकिन मैं अपनी समस्या किससे कहूँ—अपना अन्तर किसको खोलकर दिखलाऊँ! बच्चे सुनें तो हँसें और बीबी सुने तो कहे—पागल हो गये हो।

कभी-कभी रात के घोर सन्नाटे में स्वप्नाविष्ट-सा मैं कुछ अस्पष्ट ध्वनियाँ सुनने लगता हूँ। कोई खिलखिल हँस रही है। कोई धका देकर कह रही है—गा री पत्ती! और चुरियाँ खनक उठती हैं, छत कुटने लगती है। और एक कोमल, अत्यन्त कोमल गायन—स्वर फूट पड़ता है—"निंदिया लागी...।"

और उसके हाथों में जो छाले पड़ गये हैं, वे वहाँ से उठकर मेरे हृदय से आकर चिपक गये हैं!

श्री जैनेन्द्र कुमार

जन्म—१९०५ ई०

रचना—१९२८ ई०

जन्म स्थान—अलीगढ़

निवास—दिल्ली

पेशा—लिखना

अलीगढ़ के कौड़ियागंज नामक स्थान में आपका जन्म हुआ। माता ने पाला-पोसा; क्योंकि पिता बचपन में ही स्वर्ग सिधार गये थे। ब्रह्मचर्याश्रम में सातवीं श्रेणी तक शिक्षा मिली। प्राइवेट तौर पर मैट्रिक पास किया। फिर कालेज में इंटर से आगे न जा सके—क्योंकि तब तक गान्धी जी के असहयोग का बिगुल बज गया था। फिर जेल गये। जेल में ही आत्म-निरीक्षण करने का मौका मिला, फलस्वरूप लिखने की प्रेरणा हुई। फिर कहानियाँ, उपन्यास तथा निबन्ध लिखने लगे। थोड़े दिनों में ही अपनी विशेषता के कारण बहुत प्रसिद्धि पायी, जो प्रायः कम साहित्यिकों को मिलती है।

जैनेन्द्रजी की भाषा अपने ढंग की अकेली है। देहली के आसपास बोली जानेवाली बोली को—जिसे असली खड़ी बोली या उर्दू-ए-मुअल्ला कहा जाता है—आपने अपनाया है। आप का प्रत्येक शब्द अपनी जगह ऐसा जमकर बैठता है कि वहीं का हो जाता है। आपके छोटे-छोटे, ध्वनि-पूर्ण वाक्य भाषा के

शृंगार-से हैं। आपकी शैली इतनी रोचक होती है कि पढ़ते कभी जी नहीं ऊबता। तीव्रता निरंतर बढ़ती जाती है। हर वाक्य में हम आपका निरीक्षण व अनुभव पाते हैं। हाँ, आपसे शिकायत यही रहती है साधारण पाठक की, कि आप ज़्यादा विचारक या दार्शनिक हो जाते हैं। जैनेन्द्र जी के विचारों के बोझ को पाठक कभी-कभी उठाने में असमर्थ हो जाता है। अथवा कथावस्तु और चरित्र-निर्माण के त्वरित प्रवाह में दार्शनिक विवेचन बड़े-बड़े अचल चट्टानों की तरह अड़ जाते हैं, जिनसे क्रीड़ा-विलासी पाठक कतरा कर निकल जाना ही अच्छा समझता है।

जैनेन्द्रजी राष्ट्रीय विचारवाले और प्रगतिवादी व्यक्ति हैं। और उससे भी बढ़कर हैं आप Rationalist (युक्तिवादी)। तर्क और युक्ति पर कसकर ही आप हर चीज़ को देखते हैं। प्राचीन मान्यताओं को—चाहे वह पतिव्रत, देशभक्ति, ईश्वरवाद या कुछ भी हो—आप यों मानने के लिए तैयार नहीं हैं, जब तक कि उसे कसौटी पर कस न लें, उसकी चीर-फाड़ न कर लें। इसीलिए आप अन्धाधुन्ध किसी भी वाद या पन्थ को नहीं मानते। इसीलिए समाज, व्यक्ति, राष्ट्र, धर्म आदि में जहाँ कहीं भी आप अन्धता देखते हैं, खण्डन करते हैं। नैतिकता के नाम पर जो धांधली चल रही है उस पर भी आपने नवीन ढंग से विचार किया है अपनी रचनाओं में।

जैनेन्द्रजी ऐसे कलावादी नहीं हैं जो कला की साधना ही अपना लक्ष्य मान लेते हैं। कला उनकी साध्य नहीं है, साधन-मात्र है। और साधन का उपयोग आप उतना ही करते हैं जितना साध्य तक पहुँचने के लिए ज़रूरी हो। फिर भी आपकी रचनाओं में कला के सारे अंगों का पूरा विकास हुआ है। आप मानव-मन की कमज़ोरियों या मज़बूतियों का ही नहीं—बल्कि दोनों पहलुओं का अच्छा विश्लेषण करते हैं। सारा विश्लेषण आपका अपना, मौलिक होता है। गोकि आप पर पश्चिमी साहित्य का काफ़ी प्रभाव दीखता है।

जैनेन्द्रजी युग प्रवर्तक लेखक हैं। आपने भाषा, भाव, विचार— सब में क्रांति की है और हिन्दी के वर्तमान लेखकों पर आपका काफ़ी प्रभाव पड़ा है।

आपकी 'दृष्टिदोष' कहानी छोटी सी, मगर मार्मिक है। मनोविज्ञान की एक पतली रेखा पर इतनी सुन्दर कहानी बन पायी है। कहानी का 'मैं' डाक्टर कहता है "उसी किशोरावस्था में एक बात घटी,—अब तो उसे बात ही कहना चाहिए; किन्तु, जब वह हो रही थी तब कोरी 'बात' न थी।" और अन्त में भी यही साबित हुआ कि ३५ साल के जीवन से, डाक्टरी से, धन दौलत से, पत्नी से—बढ़कर वह बात है। सुभद्रा को भूलकर भी वह भूल न सका था। वह भी तो नहीं भूल पायी थी।

कहानी का प्लाट कुछ नहीं है। मगर कहने का ढंग इतना पुरअसर है कि वह मरे को ज़िन्दा कर देता है। कहानी का पहला परिच्छेद कुछ नहीं है। मगर उसके बिना दूसरा परिछेद बेकार है, सारी कहानी फ़िज़ूल है। यही जैनेन्द्र जी की टेकनीक की सफलता है। इसीलिए आप इतने सफल कलाकार हुए हैं।

आपसे हिन्दी साहित्य को और भी बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं।

रचनायें—

उपन्यास—परख, सुनीता, त्यागपत्र, कल्याणी, अनाम-स्वामी (विश्ववाणी में प्रकाशित)

कहानी संग्रह—वातायन, फाँसी, एक रात, दो चिड़िया, नीलम देश की राजकन्या, स्पर्धा।

निबन्ध—जैनेन्द्र के विचार, जड़ की बात।

'परख' पर हिन्दुस्तानी एकेडमी ने पाँच सौ रुपये का पुरस्कार दिया है।

दृष्टि दोष

बचपन में जो कुछ हो जाता है, वह याद रहता भी है, नहीं भी रहता है। हम भी उसमें से 'कुछ इस' को तो भुला देना चाहते हैं और 'कुछ उस' को अपने निकट सदा ताज़ा रखे रखना चाहते हैं। किन्तु, बढ़ते चलने में क्या छूटता जायगा और क्या अपने भीतर संग्रहीत हुआ रहेगा, सो किसी नियम से शोधा नहीं जा सकता।

मेरी अवस्था पैंतालीस वर्ष की होगी। विवाह भी कर लिया है और अपनी डाक्टरी में मज़बूती से संभला बैठा हूँ। इस डाक्टरी की अच्छी आय और ऊँची प्रतिष्ठा की कुर्सी पर से अब जब बचपन को देखता हूँ तो वह अच्छा ही लगता है। अब यह स्वीकार करते हमें आनन्द ही होता है कि जब हम छोटे थे तब बड़े मूरख थे। क्योंकि, उससे बिलकुल पार हो जाकर, हम अब उसपर असंलग्न निगाह डाल सकते हैं।

किशोरावस्था को भी बचपन ही कहिये। अन्तर इतना ही है कि इस अवस्था में बच्चे की बेवकूफी यहाँ तक बढ़ जाती है कि उसे हिम्मत होती है कि वह अपने को बड़ा समझे, बच्चा न समझे।

उसी किशोरावस्था में एक बात घटी। —अब तो उसे 'बात' ही कहना चाहिए; किन्तु, जब वह हो रही थी तब कोरी बात ही नहीं थी। क्या थी, यह पाना एकदम अशक्य है। पर सारी ज़िन्दगी को एक मोड़ पर वह डाल गयी और वहाँ सदा के लिए जैसे एक गाँठ बैठ गयी।

घर मेरा ग्वालियर था, पढ़ता कानपूर था। कानपूर में एक रिश्तेदार के यहाँ रहता था। अब वह 'बात' यह भी कि एक सभ्रांत पड़ोसी के घर में सुभद्रा नाम की एक लड़की रहती थी। नवीं क्लास में थी या दसवीं में ठीक याद नहीं। स्वभावतः हम एक दूसरे को जानने लगे। परस्पर परिचय पाया, मिले। परिणाम हुआ कि एक रोज़ मेरे मन में होने लगा कि मैं या तो उसे पाऊँ या मर जाऊँ। किन्तु इन दोनों में से कोई बात होने में नहीं आयी। हुआ यह कि मैंने सुना, लड़की के पिता उसकी सगाई के लिए अन्यत्र कहीं ठीक-ठाक कर रहे हैं। सुनकर जग फीका लगने लगा। उस समय मन में आया कि चलो जी, मर-मराकर पाप काटो। यह भी सोचा कि मैं तो मरूँ ही, चलो, सुभद्रा को भी तमंचे की एक चोट से छुटकारा दे दूँ। फिर कहाँ रहेगा जगत और कहाँ रहेगी हमारे मन की बिथा।

यह विचार मैंने पत्र से सूचित किया कि कहो सुभद्रा, क्या राय है?

सुभद्रा के पास से कोई राय मेरे पास नहीं आयी। न कोई मेरे लिए संबोधन ही आया, न उद्बोधन। न प्रेम की शपथें आयीं, न क्षमा की प्रार्थना। मृत्यु के विषय में निर्भीक संकल्प भी नहीं आया, जिसकी मुझे पक्की आशा थी। —असल में कोई जवाब ही नहीं आया।

तब मेरी आँखें खुल पड़ीं। मैंने कहा कि 'ओ सुभद्रा, तू ऐसी!....

पर क्यों न? आखिर तो तिरिया-चरित है' और इच्छा की कि एक लंबी सी तलवार क्यों न हुई जो दोनों के सीने में से निकलकर दोनों को आपस में पिरो दे और मंजिल तय हो जाय। फिर भी हठात् मैं संभला और पत्र पर फिर पत्र लिखे। पर जवाब किसी का भी न पाया।

अब जब उस किस्से से मैं बिलकुल पाक हूँ, बहुत दूर हूँ, तब झूठ बोलने का मुझे कोई लालच नहीं है। मैं कह सकता हूँ कि हम दोनों के बीच में यदि कुछ रसीला उठा और भरकर फोड़े-सा पकता ही आया तो उसमें सुभद्रा निरी निर्दोष न थी। मैं कितना ही उस समय अपने पौरुष पर मुग्ध क्यों न होऊं; भाग्य पर विस्मित और मन के भीतर अपराधी; लेकिन अब आकर तो इस बात से आँख मींच ही नहीं पाता कि मैं तो पतंग जितना भी स्वाधीन न था। और यद्यपि वह सुभद्रा आकांक्षाहीन स्थिर दीप-शिखा की भांति अपने आपमें मग्न और प्रज्वलित दीखा की, फिर भी मानो आमंत्रणीय और निश्शब्द आकांक्षा का जो जाल, उसके बावजूद, उसमें से फूटकर, आखेट की चाह में बाहर फैला आया था, सुध-बुध भूलकर मैं उसी में खिंचा चला जाता था।

ख़ैर, जो हो जब मैंने जवाब नहीं पाया और हाथ में कोई तलवार न तमंचा पाया, तो मैंने अपने घर ग्वालियर पहुँचकर निश्चय किया कि मैं कानपुर छोड़ दूंगा, अब से लखनऊ पढ़ूंगा।

मैं लखनऊ में जाकर पढ़ने लगा। खूब जी को तोड़-मोड़कर मैंने अध्ययन में झोंक दिया। मैंने तय कर लिया कि सुभद्रा चाहे जहाँ हो, मुझे वह नहीं पानी है। अब तो सफलता और नामवरी ही मुझे पानी है। मैं पढ़ता गया और पढ़ता गया। — बी. एस-सी० किया, फिर मेडिकल कालिज में गया। ब्याह का नाम तक पास न फटकने दिया। एम. बी., बी. एस. के बाद दो साल और मैं स्पेशलिस्ट बनने में निकाले। इस भाँति राह को दीर्घ से दीर्घ

बनाकर भी जब मैं उसके पार आ लगा, तब तीस साल का होकर, अपनी आँख की डाक्टरी में जमने बैठ गया।

तीस से आरंभ करके आज पैंतीस वर्ष के होने के इस काल ने मुझे ठोक-ठाककर पक्का आदमी बनाया है।

इस बीच बार बार मुझे कहा गया—ब्याह।

हर बार मैंने कह दिया—नहीं।

फिर ज़िद हुई—अरे क्यों नहीं ?

मैंने शांत होकर यही कहा—नहीं। इसलिए और नहीं।

माँ-बाप हार गये। और भी कहनेवाले हार गये। और मैं बस डाक्टरी में गहरे से गहरा गड़ने में लगा रहा। डाक्टरी चमकने लगी। वह बढ़ने और जमने लगी। लेकिन माँ-बाप शिथिल पड़ने लगे। उन्होंने अपने जीवन में देखा कि मैं कामयाब डाक्टर बन गया हूँ। वे प्रसन्न थे किन्तु,—किन्तु इसको वे जीते जी तरसा ही किये कि मैं विवाह करके घर-बार लेकर बैठूँ और उनके वंश की बेल आगे बढ़ाऊँ। अपने वंश में और वंशजों में व्यक्ति अमर होकर जिये, इससे गहरी प्राणों में और क्या चाह है ?

किन्तु ज़िक्र हुआ—ब्याह !

मैंने कहा—उँह !

फिर जिरह हुई—अरे क्यों ?

मैंने पिंड छुड़ाया, कहा—छोड़ो छोड़ो !

सो उमर आती गयी। माँ-बाप छीजते गये। और एक दिन वे मर गये।

तब मैं डाक्टरी को पकड़कर उसके साथ और भी ज़ोर से आलिंगन में चिपट गया। जैसे मैंने मन में कहा, 'अरी ओ तू सत्यनाशिनी डायन डाक्टरी, अब तू मुझसे कहाँ जायगी? तू भी देख कि मैं तुझे फुला-फुलाकर कितनी मोटी कर देता हूँ। पर मोटापा ही तेरे भाग्य में है, अरी वंध्या!...'

इस भांति मैं चालीस वर्ष के लगभग का हो आया। स्थूल भी होता आया। पैसे के सिर पर पैसा आकर चिपटकर बैठता गया और डाक्टरी फूलकर फलती गयी। लेकिन मैं अब कभी कभी अपने को निष्फल सा भी अनुभव करता। मन गिरा-गिरा सा भी रहता और लगता कि मैं जैसे झड़ चुका हूँ। मैं अकेला हूँ और दुनियाँ धन जोड़ने के लिए है—मानो इस बातपर मन अब चिपकाये न चिपकता, वहाँ से वह खिसक आना ही चाहता। ऐसे समय अपने बारे में और सतर्क होकर मैं अपने को संभाल लेता। खूब चुस्त और कर्तव्य में अत्यंत लीन होकर कर्म में चिपटा ही रहता,—व्यस्त ही रहता। सोता बहुत कम। पढ़ता था, प्रयोग करता था, परीक्षण करता था,—उनके बाद रोग-निदान और दवा-दान करता था। नौकर बहुत थे और वे सब मुझसे होशियार रहते थे। अपनी भांति मैं उन्हें भी मशीन की नाईं अथक और चुस्त न देखूँ, यह मुझे असह्य था। मैं उनपर रह-रहकर झल्लाता और झींकता था। वक्त का मेरे लिए बहुत मूल्य था, क्योंकि उसको अपना सामना करते मैं न देखना चाहता था, मैं अत्यन्त उद्यमी डाक्टर था। किन्तु—

किन्तु इस सब से मैं तंग भी था।

इस भांति बयालीस वर्ष का होते होते मैंने सोचा, मैं विवाह करूँगा और एक मादा से विवाह मैंने कर लिया।

मादा कहने से यह मतलब नहीं कि मैंने स्त्री से विवाह नहीं किया। नहीं वह स्त्री थी। किसी की पुत्री भी थी, किसी की बहन भी थी। उसका नाम भी था, आकार भी था और उसमें व्यक्तित्व भी तो था ही। किन्तु मैंने विवाह तो नाम, रूप अथवा स्त्री के स्त्रीत्व और व्यक्तित्व आदि से नहीं किया।

वह तो मैंने मादा थी, इससे किया। मादा होने के कारण भर से मैंने स्त्री को विवाहा।

घर में चार नौकर हैं, इतनी कुर्सी, इतने पलंग, इतने तौलिए हैं, तो ज़रूरत के लिए एक मादा भी क्यों नहीं हो सकती? विवाह की कीमत देकर इसलिए उस ज़रूरत की चीज़ को भी अपने तईं सुलभ बना लिया।

अब मैं लगभग पैंतालीस वर्ष का हूँ। ऐसी पकी अवस्था में अपनी स्थूलांगिनी और कांचनदेहा डाक्टरी के स्वामित्व काल के बीच में ही, वर्षा से भीगे हुए एक दिन, जो घटना हो गयी क्या उसको आप समझेंगे?

२

सबेरे से बारिश हो रही थी। सर्दी खूब थी। आज मैं कुछ बेकाम-सा था। रोगी कम आये थे। बादल खुलने में न आते थे। रिमझिम-रिमझिम पड़ती हुई बूँदों से मेरा भी जी जैसे कुछ विवश हो आ रहा हो। मानो बूँदें मेरे भीतर चली आकर अंतर को भिगो रही हों। मैं इस तरह की बेमतलब अवस्थाओं को नापसन्द करता हूँ, जब हम पाते हैं कि अपने ही में हम घुले जा रहे हैं, घुले जा रहे हैं!—छिः! यह क्या आदमियत है? इसलिए उन नीरव और गीली घड़ियों को चुनौती देता हुआ-सा मैं पुरुषार्थपूर्वक कुर्सी से खड़ा होकर अपने ही कमरे में टहलने लगा। तभी थोड़ी देर में मुंशी ने आकर एक पर्चा मुझे दिया, जिसपर लिखा था 'On Business', नीचे हस्ताक्षर स्पष्ट न थे। मैंने पूछा—कौन है?

मुंशी के बताने से मालूम हुआ, एक भद्र महिला हैं!—

महिला! मैं दृढ़ कदमों से टहल रहा हूँ, तब भद्र महिला!—

मैंने किंचित परुषभाव से कहा—वह क्या चाहती हैं?

मुंशी ने संकेत भाव से बताया कि जहाँ तक वह समझता है, जो पर्चे में लिखा है, वही वह महिला चाहती होंगी।

मैंने अपनी कुर्सी की ओर बढ़ते हुए कहा—अच्छा, उन्हें आने दो।

महिला आयीं। मैं कुर्सी पर बैठा रहा, अभिवादन में झूठे को तनिक ही उठा हूँगा कि बैठ गया।

महिला ने कुर्सी खींची, हाथ में से ग्लव्स खींचकर तह करके मेज़ पर रख दिये और खड़े ही खड़े हठात् मुस्काराते हुए कहा—डाक्टर साहब, आप मुझे अपनी मरीज़ा बनने दीजियेगा?

यह कहते कहते वह कुर्सी पर बैठ गयीं।

मेरे भीतर कुछ वस्तु ज़ोर से उठने और बैठने लगी। मुझे अपने को यह मनाना मुश्किल होता जाता था कि मैं डाक्टर हूँ और यह मरीज़ा है, कि मैं अपरिचित हूँ और यह भी अपरिचिता है।

मानो अपने बावजूद मैंने कहा—आपका नाम—

महिला ने बीच ही में बात को लेकर कहा—जी हाँ, मेरा नाम सुभद्रा है, और मैं ख़ूब सानन्द हूँ।

मानो अब मैं अपने भीतर शान्त होने लगा और आदतवश अनायास डाक्टर हो चला। मैंने साधारण भाव से कहा—ओह!

सुभद्रा ने कहा—जी हाँ, डाक्टर साहब, मैं बिल्कुल ख़ुश हूँ। लेकिन लोग कहते हैं कि दृष्टि-दोष है। ज़रा ज़ोर पड़ने पर आँख में पानी उतर आता है। आप आँख के विशेषज्ञ हैं। आज जब काम से देहली आना हो गया है तब मैं आपसे पूछना चाहती हूँ कि क्या मुझे आप अपनी मरीज़ा बनने देंगे?

मैंने कहा—अच्छा।

इस 'अच्छा' में मानो मैंने अच्छी तरह कह दिया कि मैं डाक्टर ही हूँ।

मैं उठकर एक तरफ़ को बढ़ा, कहा—आप ज़रा इधर आइएगा?

उनकी आँख को साधारण रीति से देखा, यथानियुक्त दूरी पर रखे बड़े छोटे अक्षरों को पढ़वाया और मुस्कुराकर कहा—दृष्टि में तो दोष नहीं मालूम होता।

उन्होंने कहा—आँख में पानी बहुत जल्द आ जाता है।

मैंने कहा—तो थोड़ी तकलीफ़ और कीजिये।

और डार्क रूम में ले गया। वहाँ अंधेरा ही अंधेरा था। मैंने चट से बिजली खोली और आँख के संबंध में उनका इतिवृत्त जानना आरंभ किया। वह मुस्कुराती जाती थीं। मुझे ध्यान रखना पड़ रहा था कि मैं डाक्टर हूँ। मैंने आवश्यक प्रयोग और परीक्षण कर कहा—चलिये, अब दफ़्तर में चलें।

वह कुर्सी पर बैठी थीं। मैं बराबर में खड़ा था। एक दूधिया बत्ती जल रही थी जो इस कमरे की रात को दिन बनाने की भीख मांगती लगती थी। कुर्सी पर बैठे-बैठे उन्होंने कहा—कुछ दवा नहीं दीजिएगा?

मैंने कहा—दवा आपको ज़रूर चाहिए तो ज़रूर दूँगा।

"जी हाँ, क्यों ज़रूर नहीं चाहिए?"

मैंने एक शीशी में कुछ बनाकर तैयार कर दिया। और कहनेवाला ही था 'चलिए' कि उन्होंने पूछा—'डाक्टर साहब, मेरी निगाह ठीक हो जायगी?'

मैंने कहा—निगाह तो ठीक ही है।

सुनकर वह चुप हो गयीं। मैं भी चुप रहा। सब चुप था—जैसे समय भी चुप ठहर गया हो। बाहर बूँदें टपटप टपकती थीं। वह टपटप अस्पष्ट कमरे में आ रही थी। मानो जीवन का वे ही वहाँ लक्षण थीं, या कि हम दोनों के श्वास। तीन मिनट, चार मिनट हो गये। वे तीन-चार मिनट बेहद भारी होते गये। हाथ कुछ न आता था जो उन घड़ियों को टाल दे,

और अटल होकर वे एक एक पल मन मन भर भारी होते जाते थे। मानो अब मिथ्याचार टिकाये न टिकेगा। "मैं डाक्टर हूँ", इसको कुचल कर यह प्रतीति मानो ऊपर आ ही रहेगी कि "मैं पुरुष हूँ" और यह भी कि जो कुर्सी में है वह मरीज़ा तो चाहे हो, और चाहे न भी हो, पर वह सुभद्रा है।

शहद से भी भारी ये दो आत्माओं के बीच के सन्नाटे की घड़ियाँ असह्य होती चली गयीं। चौथा मिनट होते होते आखिर, मानो मोह तोड़, अपने साथ एकदम झटपट मचाकर मैंने कहा—चलिए, दवा बन गयी है।

उन्होंने भी जैसे खोई सुध पायी। उन्होंने कहा—आप मरीज़ के इत-मीनान का इतना ही ख़याल रखते हैं, डाक्टर साहब ? ठहरिये, बतलाइये, मेरी आँख ठीक हो जायगी ? मैं अब चालीस की होने आती हूँ।

मैंने धीमे से कहा, 'हाँ, ज़रूर हो जायगी।' फिर हम लोग उठकर बाहर दफ़्तर में आ गये। महिला ने वहाँ धीमे धीमे, मानो विचारपूर्वक, हाथों में दस्ताने पहनने शुरू किये। उसी समय उन्होंने कहा, "आपकी कृपा के लिए, डाक्टर साहब, मैं बहुत कृतज्ञ हूं।" यह कहकर मेरी फ़ीस के बीस रुपये निकाल कर मेरे सामने मेज़ पर रख दिये।

वे दोनों नोट, नये, रंगीन, क्रिस्प, मेरी निगाह के आगे बिछे के बिछे ही रह गये। मालूम हुआ कि इन कागज़ों का बोझ मेरे हृदय से संभाला न जायगा। जी में हुआ-सा कि इन कागज़ों को और अपनी डाक्टरी के आवरण को फाड़-फेंककर बाहें फैलाकर खड़ा हो जाऊँ और कहूँ, 'ओ सुभद्रा!' लेकिन वह कुछ भी न हुआ। मेरा हाथ यन्त्र के समान धीरे धीरे बढ़ा, नोटों तक पहुँचा और नोटों को अपनी पकड़ में मरोड़कर उन्हें चुपचाप मेरे जेब में डाल गया। सुभद्रा देखती रही और जब नोट चुप जेब में बंद हो गये तब मानो उसके मुख का सुख बढ़ा। उसने कहा—डाक्टर साहब, मैं बाल-बच्चेदार स्त्री हूँ। क्या आप इजाज़त देंगे कि आपके बाल-बच्चों से मिल लूँ ? मेरे बच्चे सब दूर हैं। मैं यहाँ अकेली हूँ।

मैंने कहा—आप कह क्या रही हैं?

मैं यहाँ बिल्कुल अकेली हूँ डाक्टर साहब, और हाल ही मेरा पाँच वर्ष का एक बच्चा मर गया है। वह किताब में ए-बी-सी-डी सुनाया करता था और खाते वक्त रोटी के ये हरुफ़ बनाया करता था। यहीं के अस्पताल में वह मरा है। उनके बाप को छुट्टी नहीं मिल सकी और वह नहीं आ सके। और बच्चे बाप के पास हैं। उनके देखने को मेरा बहुत जी है। पर वह कहाँ हैं मैं कहाँ हूँ? आपके कितने बच्चे हैं डाक्टर साहब?"

मैं विमूढ़ होता गया। कुछ कहने के लिए मैंने कहा—आप क्या कह रही हैं?

उन्होंने कहा—डाक्टर साहब, आप मुझे....आपके कितने बच्चे हैं?

यह सब कुछ मेरे लिए बहुत, होता जा रहा था। मैंने एकदम कहा—मेरे कोई बच्चा नहीं है सुभद्रा।

मैं बह पड़ने को हो गया। पर मानो बह चलने से हठात् इनकार करते हुए उसने पूछा—शादी नहीं की?

"की है।"

तब मानों मैंने उसके मुँह का संबोधन सुना—केदार! क्या यह मेरी कल्पना थी?

और मेरे कण्ठ तक आया—सुभद्रा!

हम अपनी अपनी जगह रहे और मानो एक दूसरे को निगाहों से निगल जाना चाहने लगे।

किन्तु वह सुभद्रा थी। उसने कहा—आप दुखी हैं?

"नहीं, दुखी नहीं हूँ" मैं कह चला, "दुख जानने लायक मैं नहीं

हूँ।" उस समय सुभद्रा जो हो पड़ी, मैं उसे न समझ सका। उसने कहा—केदार, किन्तु मुझे तो देखो। मैं सुख से किसी तरह भी बचकर दुखी हो सकती हूँ? हमारा गृहस्थ-जीवन स्वर्ग है। मैं बच्चों को प्यार करती हूँ। बच्चे मेरे हैं। पति मुझे प्रेम करते हैं और वह मेरे पति हैं। छिः फिर भी तुम दुखी होते हो। सुभद्रा कितने सुख में है यह नहीं देखते?

कहते कहते सुभद्रा की वाणी मानो मर्म-वेधिनी होती गयी। वह मानो चीख़-चीख़कर यह सुना रही थी।

तब मुझे मालूम होने लगा कि स्त्री क्या है? कि वह मादा नहीं है, वह तो स्त्री ही है। मैंने मानो उसको संबोधन देते हुए कहा—सुभद्रा!

उसने कहा—नहीं, केदार, तुम मेरे सुख को कम नहीं कर सकते। यह देखो ग्लव्स—बाईस रुपये के मुझे स्वामी ने लेकर दिये थे। मेरी मोटर बाहर खड़ी है। बहुत-सी चीज़ों की और अपनी मालिक मैं हूँ। केदार, तुमने शादी कब की? चार वर्ष पहले तक तो तुम ऐसे ही थे!

मैंने कहा—सुभद्रा!

"नहीं केदार, तुम मेरा सुख स्पर्श नहीं कर सकते। तुम कोई नहीं हो कि मुझ सुखी को लेकर दुखी बनो, जिससे कि मेरा ही सुख मुझे काटे। नहीं, तुम मेरे आनंद नहीं छू सकोगे। मैं बहुत प्रसन्न हूँ।"

"सुभद्रा!"

"केदार, तुम्हारे पत्र मुझे नहीं मिले, यही तुम समझो। बताओ, उनमें मूर्खता के सिवा कुछ था? और प्रेम मूर्खता है। प्रेम में किसीने सुख पाया है? इसलिए मैंने उसी क्षण उन पत्रों को समाप्त किया और उसके बाद सुख के राह की सब अड़चन मिटा दी। विवाह हुआ, कुटुम्ब हुआ...नहीं केदार, तुम ईर्ष्या नहीं कर सकोगे।"

मैंने फिर कहा—'सुभद्रा' ताकि वह रुके और शान्त हो। लेकिन उसने कहा—केदार, तुमने कब व्याह किया? ग्यारह साल ही तो? मैं सब जानती रही। लेकिन तैंतालीस वर्ष तक तुम कुँवारे रहे?....मैं कहती हूँ कि सुभद्रा पर इसकी कोई जिम्मेदारी नहीं है, कोई फिक्र नहीं है...केदार, केदार! क्या तुम आशा किये ही जाते हो? किये ही जाओगे? लेकिन आशा ठगिनी है। आशा झूठ है, जैसे कि तलाक झूठ है। तैंतालीसवें वर्ष व्याह करके भी तुम सुभद्रा को याद रखने की हिम्मत रखते हो? लेकिन तुम्हारी हिम्मत झूठ है, क्योंकि सुभद्रा सुखी ....

"सुभद्रा!"

"नहीं, नहीं, मैं विधवा जल्दी होनेवाली नहीं हूँ। मैं कभी विधवा नहीं हो सकती, क्योंकि मैं सती होऊंगी। सतीत्व भारत से मिटा नहीं है, यह मुझसे लोग देखेंगे। तुम आशा करके अपने को ठगो मत, केदार। क्योंकि मैं विधवा एक क्षण को भी नहीं हूँगी और तुम्हारे मुँह भी नहीं देखूँगी। दृष्टि-दोष न होता तो क्या तुम समझते हो मैं याद भी करती कि केदार नाम का एक डाक्टर है या केदार कोई आदमी भी है? आँख की वजह से ही मैं तुम्हारे पास आयी हूँ, यह खूब समझ लो!"

मैंने जेब से नोट निकाले। धीमे धीमे हाथ बढ़ाकर उसका हाथ पकड़ा और उस हाथ की मुट्ठी बाँध उन नोटों को मींज देकर उसकी कलाई थामे हुए ही कहा, "सुभद्रा!"

कुछ देर वह जैसे अवसन्न हो रही। फिर एक साथ झटके से अपना हाथ खींचकर बोली—आप मुझे यह बताना चाहते हैं कि मैं मरीज़ा नहीं हूँ और आपके पास इसलिए नहीं आयी हूँ कि आप डाक्टर हैं? अजी, मुझे दृष्टि-दोष न होता और आप आँख के डाक्टर न होते तो मेरा आपसे क्या वास्ता था? यह रुपये वापस करके आप अपने को धोखा देना चाहते हैं कि मेरा आपसे वास्ता है।

यह कहकर दोनों नोट मेज़ पर ही छोड़ दिये। वे कागज़ गुड़ी-मुड़ी हुए मेज़ पर पड़े रहे।

मैंने कहा—सुभद्रा!

सुभद्रा खड़ी हो गयी। उसने कहा डाक्टर साहब, मेरी आँखों को आराम हो जायगा न? आपने आठ रोज़ की दवा दी है। उसके बाद ख़त भेजकर या आदमी भेजकर भी आपके यहाँ से दवाई मँगाई जा सकती है न? मेरा आना मुश्किल होगा।

मैं भी खड़ा था। मैंने कहा—प्यारी सुभ—

लेकिन सुभद्रा दरवाज़े से बाहर चली गयी थी।...

इसको बीते ज़्यादा दिन नहीं हुए हैं और मैं नहीं जानता कि इस घटना को मैं किस प्रकार तह करूँ और अपने सामान में उसे कहाँ रखूँ।

प्रगतिवादी कहानियाँ

भगवती चरण वर्मा

अज्ञेय

यशपाल

श्री भगवती चरण वर्मा

जन्म—१९०३ ई०

रचना—१९२१ ई०

जन्म-स्थान—शफीपुर

निवास—बम्बई (आजकल)

पेशा—लिखना

श्री वर्मा जी ज़िला उन्नाव (यू. पी.) के शफीपुर नामक स्थान में पैदा हुए। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी.ए.,एल-एल.बी. हुए। मगर वकालत पास करने पर भी आप कचहरियों के वकील नहीं बने। आप बने जनता के—शोपित, पीड़ित मानव समुदाय के वकील। और फ़ीस में मिला फ़ाक़ा और फटकार। दिल में आग, कलम की नोक में शोले और आँखों के सामने इन्क़लाब लेकर आप साहित्य के मैदान में उतरे। पहले कवि, फिर कथाकार और उपन्यासकार, बाद को संपादक। इधर कुछ दिनों से आप सिनेमा संसार में काम कर रहे हैं।

श्री वर्मा जी हमारे नये युग की पौद हैं। साहित्य में, जीवन में, नया दृष्टिकोण ला रहे हैं। यह मान लेने में कोई बुराई नहीं है कि यह दृष्टिकोण योरप, ख़ासकर रूस से प्रभावित है। ये लेखक हमारे पुराने समाज, विचार-धारा और आर्थिक व्यवस्था की कीमत नये सिरे से लगा रहे हैं; और वह सारा उनके साहित्य में प्रतिबिंबित है। श्री वर्मा ने 'विचार' नामक पत्र का संपादन

कलकत्ते से किया था। उस तरह के विचारोत्तेजक और निर्भीक स्वभाव के पत्र हिन्दी में कम निकले।

श्री वर्मा जी की भाषा में ओज है, बाँकापन है और है जवानी की उमंग। रचनाओं में अलबेलापन है, चोट करने की ताक़त है, और है प्रबल विद्रोह। आज के हिन्दुस्तान के लिए शायद यह बहुत ज़रूरी है। वर्मा जी की 'इन्स्टालमेंट' कहानी में एक चुभता हुआ व्यंग है तथाकथित उच्च वर्ग के प्रति। इस वर्ग के प्रतिनिधि किस तरह झूठी इज़्ज़त, बनावटी शान, दिखावटी सभ्यता के बोझ के तले आप ही दबे जा रहे हैं—इसका उदाहरण इस कहानी का नायक है। चित्रण भी बा-कमाल है। उस श्रेणी का आदमी यह कहानी पढ़कर ज़रूर तिलमिला जायगा—और यही तो लेखक चाहता है।

रचनाएँ—

उपन्यास—चित्ररेखा, तीन वर्ष।

कहानी संग्रह—इन्स्टालमेंट, दो बाँके।

कविता—मधुकण, प्रेम संगीत।

'चित्रलेखा' उपन्यास का सुन्दर फ़िल्म भी बना है।

इन्स्टालमेंट

चाय का प्याला मैंने होठों से लगाया ही था कि मुझे मोटर का हार्न सुनाई पड़ा। बरामदे में निकल कर मैंने देखा कि चौधरी विश्वम्भरसहाय अपनी नयी शेवरोले सिक्स पर बैठे हुए बड़ी निर्दयता से एलेक्ट्रिक हार्न बजा रहे हैं। मुझे देखते ही वह—हलो, गुड ईवनिंग, सुरेश!—कहकर कार से उतर पड़े।

गुड ईवनिंग, चौधरी साहब! अभी चाय पीने बैठा ही था। बड़े मौके से आये।

चौधरी विश्वम्भरसहाय गठे बदन के लम्बे-से युवक थे। उम्र क़रीब पचीस वर्ष की थी। रङ्ग सांवला, चेहरा लम्बा और मुख की बनावट बहुत सुन्दर। बाल बीच से खिंचे हुए, कलम कान के नीचे तक और दाढ़ी-मूँछ साफ़। चेहरे पर पाउडर और क्रीम की एक हलकी-सी अस्पष्ट तह। वह धारीदार सिल्क की शेरवानी पहने थे और उनकी टोपी, जिसे वह हाथ में लिये

थे, उसी कपड़े की थी। गरारेदार पाजामा, पैर से मोजा नदारद, लेकिन पेटेन्ट लेदर का प्रशियन पम्प।

चौधरी विश्वम्भरसहाय के पिता चौधरी हरसहाय अवध के एक छोटे-मोटे ताल्लुकेदार थे। विश्वंभर सहाय अपने पिता की एकमात्र संतान थे, लेकिन लड़कर प्रयाग चले आये थे। पिता और पुत्र के स्वभाव में काफ़ी समता होते हुए भी हलकी-हलकी बातों में आपस में गहरा मत-भेद रहता था। चौधरी हर-सहाय और चौधरी विश्वम्भरसहाय शराब में बराबर रुपया ख़र्च करते थे, लेकिन जहाँ पिता महुवे के ठर्रे की सवा बोतल पी जाते थे, वहाँ पुत्र ह्विस्की के दो पेगों से ही सन्तुष्ट हो जाया करते थे। न पिता वेश्यागामी थे न पुत्र। केवल, पिता रियासत की कुछ जवान बारिनों और चमारिनों पर दस-पन्द्रह रुपया महीना ख़र्च कर दिया करते थे, तो पुत्र नगर में 'सोसायटी गर्ल्स' की दावत पर तथा उनको खेल-तमाशे दिखलाने में दस-पन्द्रह रुपया महीना खर्च कर दिया करते थे। पिता और पुत्र दोनों को ही राजनीति से रुचि थी, लेकिन जहाँ पिता अमन-सभा के सभापति थे वहाँ पुत्र कभी-कभी खद्दर पहनकर कांग्रेस-मञ्च से व्याख्यान दे दिया करते थे।

परिणाम स्पष्ट था। एक दिन पुत्र ने पिता को बाग में भूसा भरनेवाली कोठरी में बन्द कर दिया और गाँव में फिर वापस न आने की क़सम खाकर शहर की राह पकड़ी। बारह घण्टे तक गुम रहने के कारण काफ़ी छान-बीन करने के बाद चौधरी हरसहाय उस भूसेवाली कोठरी से बरामद किये गये।

अपने पुत्र की नालायकी पर चौधरी हरसहाय बहुत क्रोधित हुए और उन्होंने अपना पिस्तौल निकाला। पति का यह उग्र रूप देखकर चौधराइन साहिबा, अर्थात् चौधरी हरसहाय की पत्नी या चौधरी विश्वम्भरसहाय की माता ने स्वरों के साथ रोना आरम्भ किया। शायद पत्नी का अकेले रोना चौधरी साहब को बुरा लगा, इसलिए उन्होंने भी अपनी पत्नी के स्वर में अपना स्वर मिलाया। उसके बाद दोनों गले मिले।

प्रयाग आकर चौधरी विश्वम्भरसहाय ने सिविल लाइन्स में एक काटेज किराये पर ली। घर से चलते समय वह काफी रुपये साथ ले आये थे, फिर उनकी माता भी किसी न किसी प्रकार घर का खर्च काट-कूटकर दो-तीन सौ रुपया पुत्र को भेज दिया करती थीं।

यार सुरेश, तीन सौ रुपया आज शाम तक चाहिए। आज दिन भर शहर की गली-गली छान डाली, लेकिन कहीं इन्तज़ाम न हो सका। आखिर हारकर तुम्हारा दरवाज़ा देखना पड़ा।

मैं मुसकुराया।—बस इतनी-सी बात है! अभी लो!—चाय का प्याला चौधरी साहब के सामने बढ़ाते हुए मैंने कहा। कुछ रुककर मैंने फिर पूछा—आखिर ऐसी क्या ज़रूरत आ पड़ी।

यार, यह न पूछो!

क्या कहीं से कुछ फ़रमाइश तो नहीं हुई है?—मैंने भेदभरी दृष्टि डालते हुए पूछा।

नहीं फरमाइश नहीं हुई है, इसका मैं तुम्हें यक़ीन दिलाता हूँ।—सकपकाते हुए चौधरी साहब ने कहा।

मैं ताड़ गया कि कुछ दाल में काला है।—देखो चौधरी साहब, बनो मत, ठीक-ठीक बतला दो। रुपया मुझसे ही लेना है।—हँसते हुए मैंने कहा।

भाई, कल कार का 'इन्स्टालमेंट' देना है, बस इतनी-सी बात है।

आखिर तुम्हें वह क्या सूझी जो कार खरीद बैठे, जब तुम्हारे रोज़ के ख़र्च ही मुश्किल से चलाये चलते हैं?—मैंने पूछा।

यार, उस दिन फँस ही गये—अब क्या किया जाय

किस दिन ?

अच्छा तो जो बात अभी तक किसी को नहीं बतलायी वह तुम्हें बतलानी ही पड़ गयी। तो सुनो! अभी तीन महीने की बात है। भुवन के बड़े भाई आये थे, उनसे मिलने के लिए मैं सुबह उनके बंगले पर पहुँचा। तांगा मैंने बंगले पर पहुँचते ही छोड़ दिया, क्योंकि काफ़ी लोग इकट्ठा थे और मेरा ख़्याल था कि जल्दी छुट्टी न मिलेगी। मेरा अनुमान ग़लत भी न था। खा पी कर क़रीब बारह बजे फ़ुर्सत मिली।

मुझे एक काम से चौक जाना था। मैंने भुवन से एक तांगा मंगवाने को कहा तो मालूम हुआ कि नौकर बीमार है। यह सोचकर कि बाहर निकल कर कोई सवारी ले लूँगा, मैं भुवन के बंगले से चल पड़ा। भाई सुरेश, जानते ही हो कि बरसात की धूप कितनी कड़ी होती है। ठीक दोपहर—ज़मीन जल रही थी और खोपड़ी चटकी जा रही थी। फाटक के बाहर आकर मैं एक पेड़ की छाया में खड़ा हो गया और सवारी की प्रतीक्षा करने लगा।

मैं क़रीब आध घण्टा वहाँ खड़ा रहा, लेकिन कोई खाली तांगा न निकला। तबीयत परेशान हो गयी। मेरा बंगला वहाँ से क़रीब दो मील की दूरी पर था, पैदल चलने के ख़्याल से ही आँखों के आगे अंधेरा छा जाता था, कुछ समझ में न आ रहा था कि क्या करूँ। अन्त में मैंने यह तय किया कि यदि दस मिनट में कोई सवारी नहीं आये तो जान पर खेलकर घर तक का रास्ता पैदल ही नापूँगा।

दस मिनट भी हो गये पर सवारी का पता नहीं। अब मैंने चलने के लिए कमर बाँधी। पैर उठाया ही था कि इक्के की घड़घड़ाहट मुझे सुनाई दी। पीछे मुड़कर देखा तो एक खाली इक्का चला आ रहा था।

मैं रुक गया। सुरेश, सच कहता हूँ कि उस इक्के को देखकर जान में जान आयी। लेकिन उस इक्के की बाबत यहाँ कुछ बतला देना आवश्यक

होगा। मेरा ऐसा ख़याल है कि वह इक्का गदर के पहले बना होगा, क्योंकि इतनी पुरानी लकड़ी की चीज़ मैंने पहले कभी न देखी थी। पहिये छोटे-छोटे, जिन पर लोहे का हाल चढ़ा हुआ था, धुरे से निकलने की लगातार कोशिश कर रहे थे, लेकिन निकल न पाते थे; क्योंकि लोहे का एक एक कील उनको रोक रही थी। इसीलिए शायद उन कीलों से लड़ने के समय कभी-कभी एक कर्कश आवाज़ कर देते थे। इक्के की छत बेर-बेर चारों तरफ़ हिल-डुलकर अपने बुढ़ापे को प्रकट कर रही थी। छत के तीन डण्डे तो मौजूद थे, लेकिन चौथे के जवाब दे देने के कारण बाँस का डण्डा लगाया गया था। बाकी तीन डण्डों में भी काफ़ी मरहम-पट्टी हो चुकी थी। उस इक्के पर एक गद्दा बिछा हुआ था जिसके ऊपर का कपड़ा फट गया था और रूई हवा में उड़कर दुनियाँ में घूमने-फिरने की सोच रही थी।

उस इक्के में जो घोड़ी जुती हुई थी वह क़रीब साढ़े तीन फीट ऊँची, पाँच फीट लम्बी और एक फुट चौड़ी होगी। उसकी एक-एक हड्डी गिनी जा सकती थी। वह कभी-कभी रुककर सुस्ताने का प्रयत्न भी कर लेती थी। इक्केवान क़रीब सत्तर वर्ष के बुजुर्गवार थे, जिनकी दाढ़ी काफ़ी लम्बी थी और सन की तरह सफ़ेद। कमर झुकी हुई और दाँत नदारद। उनके एक हाथ में चाबुक था और एक हाथ में घोड़ी की रास। वह उस समय शायद अफ़ीम की पीनक में ऊँघ रहे थे।

सुरेश! तबीयत तो न हुई कि उस इक्के पर बैठूँ लेकिन मरता क्या न करता। मैं चलते इक्के पर ही उचक कर बैठ गया। घोड़ी ने अन्दाज लिया कि इक्के पर बोझ अधिक हो गया और वह विरोध-रूप में खड़ी हो गयी। इक्के के खड़े होने के साथ ही जो झटका लगा तो बड़े मियाँ ने आँखें खोल दीं। एक ही साँस में घोड़ी को माँ-बहन की गालियाँ देते हुए चार-पाँच चाबुक फटकार गये। घोड़ी को चलना पड़ा। इसके बाद उन्होंने मुझे देखा।

बाबू जी सलाम! कहाँ—चलना होगा?

बस सीधे चले चलो।—मैंने कहा, क्योंकि मेरा बंगला उसी सड़क पर था।

थोड़ी दूर चलने के बाद एक ताँगा मेरी दाहिनी ओर से आगे बढ़ा। मैंने देखा कि उस तांगे पर दो स्त्रियाँ बैठी थीं। उन दोनों को तुम भी जानते हो—प्रभा और कमला। ये दोनों जब मैं यूनिवर्सिटी में था तो मेरे साथ पढ़ती थीं। इधर इन दिनों इन दोनों से मेरी दोस्ती कुछ थोड़ी-सी गहरी हो रही थी। सुरेश, क्या कहूँ, इनको देखते ही मेरा चेहरा पीला पड़ गया, कलेजा धक—से हो गया।—अगर इन्होंने मुझे इस इक्के पर देख लिया तो?......एकदम मैंने अपना मुँह उधर से फेर लिया।

लेकिन बदकिस्मती से मैं ही अकेला उस इक्के पर था। अगर और सवारियाँ होतीं तो शायद मैं छिप भी जाता। तांगा तेज़ी के साथ बढ़ा जा रहा था, लेकिन एकाएक धीमा हो गया। मैं उस समय पीछे देख रहा था। मैंने सोचा कि तांगा चाहे लाख धीमा किया जाय, मेरे इक्के को नहीं पा सकता। यह सोचकर मैंने सन्तोष की गहरी साँस ली। लेकिन एकाएक तांगा रुक गया और प्रभा और कमला दोनों ही ज़ोर से खिलखिला कर हँस पड़ीं।

सुरेश, तुम नहीं जान सकते, उस वक्त मेरी क्या हालत थी। लज्जा और क्रोध से मेरे मुख का रङ्ग बेर-बेर बदल रहा था। दिल में तरह-तरह के ख़्याल आ रहे थे, कभी तबीयत होती थी कि इस इक्केवाले की जान ले लूँ, कभी अपनी ही जान लेने की सोचता था। फिर कभी उन दोनों का गला घोंट देने की तबीयत होती थी। लेकिन मैंने अपना मुँह सामने न किया, न किया। मैंने भी इक्केवाले से कहा—इक्का रोक दो। लेकिन काफ़ी देर तक ताँगे ने चलने का नाम न लिया तो मुझे मज़बूरन इक्केवाले से कहना पड़ा—इक्का मोड़ लो। और मैं जहाँ से चला था वहीं लौट आया।

इतना अपमानित मैं जीवन में कभी न हुआ था। मैंने तय कर लिया कि मैं इन दोनों को दिखला दूँगा कि मेरे पास कार है और इस प्रकार मैं अपने

आत्म-सम्मान पर लगे हुए धब्बे को धो दूँगा। उसी दिन शाम को मैंने यह कार ले ली। पास में रुपया न था इसलिए 'इन्स्टालमेंट सिस्टम' पर यह कार लेनी पड़ी।

मैं हँस पड़ा।—अच्छा! तो इस तरह से कार आयी। खैर, कार तो आ गयी।

चौधरी विश्वम्भरसहाय ने चाय का दूसरा प्याला बनाते हुए कहा—यार सुरेश, यह कार मैं नहीं रख सकता। अपना खर्च चलाना ही मुश्किल पड़ रहा है, कार तो एक बला पीछे लगी। लेकिन क्या करूँ, मजबूर हूँ। जिस दिन से कार ली है, उस दिन से उन दोनों की शकल ही नहीं दिखलायी दी। आज दो महीने से दिन-रात कार पर चक्कर लगा रहा हूँ। शहर की हर एक सड़क छान डाली और उनके मकान के तो न जाने कितने चक्कर लगा डाले, सिर्फ इसलिए कि वे मुझे कार पर कहीं देख लें, लेकिन न जाने कहाँ गायब हो गयीं कि उनका पता ही नहीं लगता। जिस दिन उन्होंने यह कार देखी उसके दो-चार दिन बाद ही मैं यह कार बेच दूँगा। बाबा मैं कार से बाज आया। अच्छा, अब 'इन्स्टालमेन्ट' के लिए रुपया तो निकालो।

श्री सच्चिदानंद 'अज्ञेय'

जन्म-स्थान—**कसिया (गोरखपुर)**

जन्म—१९११ ई० | निवास—**शिलांग (आजकल)**

रचना—१९३२ ई० | पेशा—**सरकारी नौकरी**

श्री 'अज्ञेय' का पूरा नाम सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्सायन है। साहित्य जगत में आप 'अज्ञेय' के नाम से परिचित हैं। आपके पिता—डाक्टर हीरानन्द शास्त्री, एम.ए., पी.एच.डी. सरकार के पुरातत्व-विभाग (Archaeology) में बड़े ओहदे पर काम कर चुके हैं। यों तो आप कर्तारपुर (पंजाब) के निवासी हैं; पर रीसर्च के काम में आप भारत के प्रायः सभी प्रान्तों में रह चुके हैं। इसीलिए श्री अज्ञेय में भारत के सभी सूबों की खासियतें आयी हैं। आपका जन्म हुआ यू० पी० में। छुटपन बीता दूसरे कई प्रान्तों में। प्रारंभिक शिक्षा पूरी हुई मद्रास में। उच्च शिक्षा के लिए गये पंजाब। 'विशाल भारत' का संपादन करते हुए बंगाल (कलकत्ता) में रहे। आजकल हैं आसाम में। इसके अलावा उगती ज़िन्दगी और उठती जवानी के कई सुनहरे साल जेल में सीखचों के अन्दर क्रांतिकारी की हैसियत से (सरकार की नज़र में डाकू की हैसियत से) बिताये हैं। पेशा के हिसाब से भी इस बत्तीस साला ज़िन्दगी में पहले उद्दंड बालक, फिर भयंकर क्रांतिकारी, फिर प्रखर साहित्यिक, फिर सफल संपादक और आजकल (न मालूम क्या

विशेषण दिया जाय) सरकारी अफ़सर का अनुभव प्राप्त कर रहे हैं। यों तो अभी तमाम ज़िन्दगी उनके सामने पड़ी है।

१४ साल की उम्र में आपने मैट्रिक पास किया। १८ साल के थे तब बी.एस-सी में उत्तीर्ण हुए। और १९३० में जब एम.ए. की तैयारी कर रहे थे, क्रांतिकारी होने के अभियोग में गिरफ़्तार कर जेल में ठूँस दिये गये। जेल में कविता और कहानी लिखने लगे। अब तक १०० के करीब कहानियाँ लिख चुके हैं। एक उपन्यास—हाँ उपन्यास ही—'शेखर: एक जीवनी' नाम से निकला है। हिन्दी साहित्य में यह अपने ढंग की अनोखी पुस्तक है। कविताएँ भी आपकी वैसी ही प्रखर स्वरवाली हैं।

अज्ञेय जी कवि बने हैं, मगर तुक भिड़ा-भिड़ाकर नहीं; लेखक बने हैं, लेकिन क़लम घिस-घिसकर नहीं। आपमें ईश्वरदत्त प्रतिभा है। प्रतिभा भी बेजोड़। दृष्टि उसी के लायक़ पैनी; छेद-कर तह तक पहुँच जानेवाली; असार—बनावटी आच्छादन—को हटाकर सत्य को—यथार्थ को—ठीक ठीक देख सकनेवाली। फिर हृदय भी वैसा ही—मुलायम, मक्खन जैसा; कठोर, वज्र-जैसा; भावुकता भरा, पुष्प जैसा; और निर्भीक, सिंह-शावक जैसा।

नये युग के नवयुवक साहित्यकारों में अज्ञेय जी मशाल लिये, —'बुकेर पांजर ज्वालीय'*— अकेले नहीं, तो कम से कम

* (श्री रवीन्द्र की एक कविता का अंश) हृदय की हड्डी जलाकर

आगे आगे ज़रूर चल रहे हैं। आपकी रचनाओं में इतना ज़ोर है कि पढ़नेवाला न भी चाहे तब भी लेखक रोब गांठकर, घसीटकर उसे साथ ले जाता है। विद्रोह—क्रांति—आपकी विचार-धारा की बुनियाद है। वह क्रांति भी कैसी? "क्रांति आंदोलन, सुधार, परिवर्तन, कुछ नहीं है; क्रांति है विश्वासों का, रूढ़ियों का, शासन और विचार-धारा की प्रणालियों का घातक, विनाशकारी, भयंकर विस्फोट। इसका न आदर्श है, न ध्येय, न धुर। क्रांति विपथगा है।..." वे क्रांति को सिर्फ़ दवा मानते हैं, पथ्य नहीं। पथ्य के वास्ते हमें दूसरी चीज़ खोजनी पड़ेगी। उसी दृष्टि-कोण से आप सब का और सब पर विचार करते हैं। "नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण-पुरातन; पावक पग धर आये नूतन"—आपका ध्येय है।—सड़ा-गला, पुराना नष्ट हो जाय, शोले बिखेरता नवीन आवे। अज्ञेय मानो पुरानी विचार-धारा के जर्जर शकट को धक्का देकर गिरा देना चाहते हैं और उस सड़क पर अपनी वैज्ञानिक, ६० मील फ़ी घंटा चलनेवाली मोटरकार दौड़ा देना चाहते हैं।—इतना सब होते हुए भी अज्ञेय की सुकुमार कला-भावना पर असर नहीं पड़ा है। मानों लेखक की नस-नस में कला भीन गयी है, बस गयी है। आपकी उग्र प्रतिभा तप कर नये प्रकाश, ओज और सौंदर्य को लेकर संसार के सामने आयी है।

अभी श्री अज्ञेय ने थोड़ा ही लिखा है। मगर उसी से

आपकी विराट-वासना और सर्वग्रासी प्रतिभा का पता चलता है। उनमें वह शक्ति मौजूद है जिसमें नवयुग का निर्माण होता है। हाँ, कहीं, कहीं उलझी हुई दार्शनिकता व सूखी तर्क-प्रणाली का बोझ पाठकों को अखरने लगता है, उससे वे भविष्य में बचेंगे, यह उम्मीद है।

आपकी प्रस्तुत कहानी 'त्रिपथगा' हिन्दी की इनी-गिनी सर्वांग-सुन्दर कहानियों में एक है। इसकी कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, वातावरण, क्लाइमेक्स, अंत---सब त्रुटिहीन है। कहने का ढंग—टेकनीक—इतना रोचक और आकर्षक है कि साँस रोककर पढ़ना पड़ता है। कहानी कुछ नहीं है—मेरिया इवानोवना क्रांतिकारी दल की सदस्य है। सदस्य बनने के लिए उसे पिता की हत्या करनी पड़ी है। और क्रांतिकारी दल के नेता क्रेस्की को जेल से छुड़ाने के वास्ते उसे अपना सब कुछ न्यौछावर करना पड़ा है। वह स्त्री की प्यारी वस्तु सतीत्व तक उत्सर्ग कर देती है। पहले पिता की, फिर गोरोवस्की और कोल्पिन की, अंत में अपनी हत्या करके अपना फर्ज़ अदा करती है। वह फर्ज़ भी क्या है? क्रेस्की की रक्षा। क्रेस्की व्यक्ति नहीं; क्रांति का अग्रदूत, राष्ट्र व देश का नेता—क्रेस्की। और अपना सब कुछ निछावर कर वह सफल होती है। उसका जीवन खतम होता है—मगर इससे क्या? 'सफल क्रांति, असंख्य विफल जीवनियों का...विस्मृत आहुतियों का

निष्कर्ष' ही तो है। इस क्रांति की भयंकर कहानी के भीतर मेरिया का स्त्रीत्व ही उसकी आत्मा है। वह न होता तो कहानी रस-हीन सीठ जैसी हो जाती। मेरिया जब कहती है—"ऐसे स्वातंत्र्य-युद्ध में सिर अधिक टूटते हैं या हृदय—कौन कह सकता है?" तब मालूम पड़ता है कि सामाजिक दृष्टि से विपथगा मानी जानेवाली मेरिया दानवी नहीं, मानवी है, स्त्री है, बल्कि देवी है। क्रांति के, प्रोफेसर जैसे, मौखिक समर्थक व प्रचारक, बहुत से दुर्बल-हृदय पाठकों को तमाचे लगाकर लेखक सावधान कर देता है।

बलिदान की यह अभूतपूर्व कहानी है; बलिदान भी वह जो अन्ध-भावना या श्रद्धा से नहीं, बल्कि शुष्क तर्क और विवेक से दिया जाता है। मेरिया—विपथगा—साहित्य-जगत में चमकीले सितारे की तरह बराबर चमकती रहेगी।

रचनाएं:—

कविता—भग्नदूत।

कहानी संग्रह—विपथगा।

उपन्यास—शेखर : एक जीवनी

विपथगा

वह मानवी थी या दानवी, यह मैं इतने दिन सोचकर भी नहीं समझ पाया हूँ। कभी-कभी तो यह भी विश्वास नहीं होता कि उस दिन की घटना वास्तविक ही थी, स्वप्न नहीं। किन्तु फिर जब अपने सामने की दीवार पर टँगी हुई वह टूटी तलवार देखता हूँ, तो हठात् उसकी सत्यता मान लेनी पड़ती है। फिर भी अभी तक यह निर्णय नहीं कर पाया कि वह मानवी थी या नहीं......

उनके शरीर में लावण्य की दमक थी, मुँह पर सौंदर्य की आभा थी, ओठों पर एक दबी हुई विचारशील मुसकान थी। किन्तु उसकी आँखें! उनमें अनुराग, विराग क्रोध, विनय, प्रसन्नता, करुणा, व्यथा, कुछ भी नहीं था! थी केवल एक भीषण, तुषारमय, अथाह ज्वाला।

मनुष्य की आँखों में ऐसी मृतवत् जड़ता के साथ ही ऐसी जलन हो

सकती है, यह बात आज भी मेरे गुमान में नहीं आती। किन्तु आज एक वर्ष बीत जाने पर भी, मैं जब कभी उसका ध्यान करता हूँ, उसकी वह आँखें मेरे सामने आ जाती हैं। उसकी आकृति, उसका वर्ण, उसकी बोली, मुझे कुछ भी याद नहीं आता, केवल वे दो प्रदीप्त बिम्ब दीख पड़ते हैं........रात्रि के अन्धकार में जिधर आँख फेरता हूँ, उधर ही, स्फटिक-मणि की तरह, नीले आकाश में शुक्र तारे की तरह हरित ज्योतिर्मय उसके वे विस्फारित नेत्र निर्निमेष होकर मुझ पर अपनी दृष्टि गड़ाए रहते हैं।

मैं भावुक प्रकृति का आदमी नहीं हूँ। पुराने फैशन का एकदम साधारण व्यक्ति हूँ। मेरी जीविका का आधार इसी पेरिस शहर के एक स्कूल में इतिहास के अध्यापक का पद है। मैं सिनेमा थिएटर देखने का शौक़ीन नहीं हूँ, न मेरा कविता में ही मन लगता है। मनोरंजन के लिए मैं कभी-कभी देश-विदेश की क्रान्तियों के इतिहास पढ़ लिया करता हूँ। एकाध बार मैंने इस विषय पर व्याख्यान भी दिये हैं, इससे अधिक कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि यह विदेश है। जब पढ़ने से मन उकता जाता है तब कभी-कभी पुराने अस्त्र-शस्त्र के संग्रह में लग जाता हूँ। बड़ी मेहनत से मैंने इनका एक संग्रह किया है। जिस कटार से सम्राट पीटर ने अपनी प्रेमिकाओं की हत्या की थी, उसकी मूठ मेरे संग्रह में है; जिस प्याले में कैथराइन ने अपने पुत्र को विष दिया था, उसका एक खंड; जिस गोली से एक अज्ञात स्त्री ने आर्कऐंजल के गवर्नर को मारा था, उसका खाली कारतूस; जिस घोड़े पर सवार होकर नेपोलियन मास्को से भागा था, उसकी एक नाल; और नेपोलियन की जैकेट का एक बटन भी मेरे संग्रह में है। ऐसा संग्रह शायद पेरिस में दूसरा नहीं है—शायद मास्को में भी नहीं था।

पर जो बात मैं कहना चाहता था, वह भूल गया। हाँ, मैं भावुक-प्रकृति का नहीं हूँ। मेरी रुचि इसी संग्रह में, या कभी-कभी क्रान्ति-सम्बन्धी साहित्य तक परिमित है, और इधर-उधर की बातें मैं नहीं जानता। फिर भी

उस दिन की घटना मेरे शान्तिमय जीवन में इसी तरह उथल-पुथल मचा गयी, जिस तरह एक उद्यान में झंझावात। उस दिन से न-जाने क्यों एक अज्ञात, अस्पष्ट अशान्ति ने मेरे हृदय में घर कर लिया है। जब भी मेरी दृष्टि उस टूटी हुई तलवार पर पड़ती है, एक गंभीर, किन्तु भावातिरेक से कंपायमान, ध्वनि मेरे कानों में गूँज उठती है—

'दीप बुझता है तो धुआँ उठता है। किन्तु जब हमारे विस्तृत देश के भूखे, पीड़ित, अनाश्रित कृषक कुटुंब सड़कों पर भटक-भटक कर हिमावृत धरती पर बैठकर अपने भाग्य को कोसने लगते हैं जब उनके हृदय में सुरक्षित आशा की अन्तिम दीप्ति बुझ जाती है, तब एक आह तक नहीं उठती! न जाने कब तक वह बुझी हुई राख पड़ी रहती है—पड़ी रहेगी!—किन्तु किसी दिन सुदूर भविष्य में, किसी घोर झंझा से, उसमें फिर चिनगारी निकलेगी! उसकी ज्वाला—घोरतम, अनवरुद्ध, प्रदीप्त ज्वाला!—किधर फैलेगी, किसको भस्म करेगी, किन नगरों और प्रान्तों का मानमर्दन करेगी, कौन जाने?'

मुझे रोमांच हो आता है, मैं मन्त्रमुग्ध की तरह निश्चेष्ट होकर उस दिन की घटना पर विचार करने लग जाता हूँ....

रात्रि के आठ बज रहे थे। मैं मास्को में अपने कमरे में बैठा लैंप के प्रकाश में धीरे धीरे कुछ लिख रहा था। पास में एक छोटी मेज़ पर भोजन के जूठे बर्तन पड़े थे। इधर-उधर दीवार पर टँगी या अँगीठी पर रखी हुई मेरे संग्रह की वस्तुएँ थीं।

बाहर वर्षा हो रही थी। छत पर से जो आवाज़ आ रही थी, उससे मैंने अनुमान किया कि ओले भी पड़ रहे हैं; किन्तु उस जाड़े में उठकर देखने की सामर्थ्य मुझ में नहीं थी। कभी-कभी लैंप के फीके प्रकाश पर खीझने के अतिरिक्त मैं बिलकुल एकाग्र होकर दूसरे दिन पढ़ने के लिए 'सफल-क्रान्ति' पर एक छोटा-सा निबन्ध लिख रहा था।

‘सफल क्रान्ति क्या है? असंख्य विफल जीवनियों का, असंख्य निष्फल प्रयत्नों का असंख्य विस्मृत आहुतियों का, आशान्ति पूर्ण, किन्तु शान्तिजनक निष्कर्ष!’

(उन दिनों मैं मास्को के एक स्कूल में अध्यापक था। वहीं, इतिहास पढ़ाने में और कभी-कभी क्रान्ति-विषयक लेख लिखने तथा पढ़ने में मेरा समय वीत जाता था। क्रान्ति का अर्थ मैं समझता था या नहीं, यह नहीं कह सकता। आज मैं क्रान्ति के विषय में अपनी अनभिज्ञता को ही कुछ-कुछ जान पाया हूँ।)

एकाएक किसी ने द्वार खटखटाया। मैंने वहीं बैठे-बैठे उत्तर दिया—‘आ जाओ’ और लिखने में लगा रहा। द्वार खुला और बन्द हो गया। फिर उसी अविरल जलधारा की आवाज़ आने लगी—कमरे में निस्तब्धता छा गयी। मैंने कुछ विस्मित होकर आँख उठायी, और उठाये ही रह गया।

बहुत मोटा-सा ओवरकोट पहने, सिर पर बड़े-बड़े बालोंवाली टोपी रखे, गले में लाल रूमाल बाँधे, दरवाज़े के पास खड़ी एक स्त्री एकटक मेरी ओर देख रही थी। उसके कपड़े भीगे हुए थे, टोपी में कहीं-कहीं एकाध ओला फँस गया था। पैरों में ऊपर घुटने तक पहुँचनेवाले बड़े-बड़े भद्दे रूसी बूट पहन रखे थे, जो कीचड़ में सने हुए थे। ऊपर टोपी और नीचे रूमाल के कारण उसके मुँह का बहुत थोड़ा भाग दीख पड़ता था। इस प्रकार आवृत होने पर भी उसके शरीर में एक लचक और साथ ही एक खिंचाव का आभास स्पष्ट होता था मानो कपड़ों से ढककर एक तने हुए धनुष की प्रत्यंचा सामने रख दी गयी हो। आँखें नहीं दीखती थीं; किन्तु उन ओठों की पतली रेखा देखने से यह भावना होती थी कि उसके पीछे विद्युत् की चपलता के साथ ही वज्र की कठोरता दबी हुई है...

मैं क्षणभर उसकी ओर देखता रहा; किन्तु वह कुछ बोली नहीं। मैंने ही मौन भंग किया—‘कहिए, क्या आज्ञा है?’ कोई उत्तर नहीं मिला। मैंने फिर पूछा—‘आपका नाम जान सकता हूँ?’

उसने धीरे-धीरे कहा, मानो प्रत्येक शब्द तौल-तौलकर रखा हो—'मैंने सुना था कि क्रान्तिकारियों से आपको सहानुभूति है, और आपने इस विषय-पर व्याख्यान भी दिए हैं। इसी सहानुभूति की आशा से आपके पास आयी हूँ।'

मैं काँप गया। मेरी इस सहानुभूति की चर्चा बाहर होती है और क्रान्तिकारियों तक को इसका ज्ञान है; फिर मुझमें और क्रान्तिकारियों में भेद क्या है? कहीं यह मास्को के राजनैतिक विभाग की जासूस तो नहीं है? मेरी नौकरी...शायद साइबेरिया की खानों में आयु भर...पर अगर यह जासूस होती तो ऐसी दशा में क्यों आती? ऐसी बातें क्यों करती? इससे तो साफ़ सन्देह होने लगता है...जासूस होती तो विश्वास उत्पन्न करने की चेष्टा करती .. पर क्या जाने, विश्वास उत्पन्न करने, का शायद इसका यही ढंग हो...खैर, कुछ भी हो, सँभल कर बात करनी होगी।

मैंने उपेक्षा से कहा—'आप साफ़-साफ़ कहिये, बात क्या है? मैं आपका अभिप्राय नहीं समझा।'

वह बोली—मैं क्रान्तिकारिणी हूँ। मुझे अभी कुछ रुपये की आवश्यकता है। आप दे सकेंगे?

'किसलिए?'

वह कुछ देर के लिए असमंजस में पड़ गयी, मानो सोच रही हो कि उत्तर देना चाहिए या नहीं। फिर उसने धीरे धीरे अपने ओवरकोट के बटन खोले और भीतर से एक तलवार—रक्तरंजित तलवार!—निकाली। इतनी देर में उसने आँख पल भर भी मुझ पर से नहीं हटायी। मुझे मालूम हो रहा था, मानो वह मेरे अन्तरतम विचारों को भाँप रही हो। मैं भी मुग्ध होकर देखता रहा।

वह बोली—'यह देखो! जानते हो यह किस का रक्त है? कर्नल गोरोवस्की का? और उसकी लोथ उसके घर के बाग़ में पड़ी हुई है!'

मैं भौंचक होकर बोला—'हैं! कब?'

'अभी एक घंटा भी नहीं हुआ। उसीकी तलवार, इन हाथों ने उसी के हृदय में भोंक दी! तुम पूछोगे, क्यों? शायद तुम्हें नहीं मालूम कि स्त्री कितना भीषण प्रतिशोध करती है!'

'तुम यहाँ क्यों आयीं?'

'मुझे धन की ज़रूरत है। मास्को से भागने के लिए!'

'मैं तुम्हारी सहायता नहीं कर सकता। तुम हत्यारिणी हो!'

वह एकाएक सहम-सी गयी, मानो उसे इस उत्तर की आशा न हो! फिर धीरे-धीरे एक फीकी, विषादमय हँसी हँसकर बोली—'बस, यहीं तक थी तुम्हारी सहानुभूति! इसी क्रान्तिवाद के लिए तुम व्याख्यान देते हो, यही तुम्हारे इतिहासों का निष्कर्ष है!'

'मैं क्रान्तिवादी हूँ; पर हत्यारा नहीं हूँ। इस प्रकार की हत्याओं से देश को लाभ नहीं, हानि होगी। सरकार ज़्यादा दबाव डालेगी, मार्शल ला जारी होगा, फाँसियाँ होंगी - हमारा क्या लाभ होगा?'

'तुम क्रान्ति को क्या समझते हो, गुड़ियों का खेल -' यह कहती हुई वह मेरी मेज के पास आकर खड़ी हो गयी। मेज़ पर पड़े हुए कागज़ों को देख कर बोली—"यह क्या, सफल क्रान्ति असंख्य विफल जीवनियों का... विस्मृत आहुतियों का... निष्कर्ष!"

वह ठठाकर हँसी। 'सफल क्रान्ति! जानते हो, क्रान्ति के लिए कैसी आहुतियाँ देनी पड़ती हैं?'

मैं कुछ उत्तर न दे सका। मैं उसे वह लेख पढ़ते देखकर लज्जित हो रहा था।

वह फिर बोली—'तुम भी अपने-आपको क्रान्तिवादी कहते हो, हम भी। किन्तु हमारे आदर्शों में कितना भेद है! तुम चाहते हो, स्वातन्त्र्य के

नाम पर विश्व जीतकर उस पर शासन करना, और हम!—हम इसी चेष्टा में लगे हैं कि अपने हृदय इतने विशाल बना सकें कि विश्व उनमें समा जाय!'

मैंने किसी षड्यन्त्र में भाग नहीं लिया है, क्रान्तिवाद पर लेक्चर देने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं किया है, फिर भी मैं अपने सिद्धान्तों पर यह आक्षेप नहीं सह सका। मैंने तनकर कहा—'तुम झूठ कहती हो। मैं सच्चा साम्यवादी हूँ! मैं चाहता हूँ कि संसार में साम्य हो, शासक और शासित का भेद मिट जाय; लेकिन इस प्रकार हत्या करने से यह कभी सिद्ध नहीं होगा। जिसे तुम क्रान्ति कहती हो, उसके लिए अगर यह करना पड़ता हो, तो मैं उस क्रान्ति का विरोध करूँगा, उसे रोकने का भर सक प्रयत्न करूँगा। इसके लिए अगर प्राण भी—'

'क्रान्ति का विरोध करोगे, उसे रोकोगे, तुम? सूर्य का उदय होता है, उसको रोकने की चेष्टा की है? समुद्र में प्रलय-लहरी उठती है, उसे रोका है? ज्वालामुखी में विस्फोट होता है, धरती काँपने लगती है, उसे रोका है? क्रान्ति सूर्य से भी अधिक दीप्तिमान्, प्रलय से भी अधिक भयंकर, ज्वाला से भी अधिक उत्तप्त, भूकंप से भी अधिक विदारक है....उसे क्या रोकोगे!'

'शायद न रोक सकूँ; लेकिन मेरा जो कर्तव्य है, वह तो पूरा करूँगा।'

'क्या कर्त्तव्य? लेक्चर झाड़ना?'

'देश में अपने विचारों का निदर्शन, अहिंसात्मक क्रान्ति का प्रचार।'

'अहिंसात्मक क्रान्ति! जो भूखे, नंगे, प्रपीड़ित हैं, उनको जाकर कहोगे, चुपचाप बिना आह भरे मरते जाओ! रूस की भयंकर सर्दी में बर्फ़ के नीचे दब जाओ; लेकिन इस बात का ध्यान रखना कि तुम्हारी लोथ किसी भद्रपुरुष के रास्ते में न आ जाय। रोते हुए बच्चों से कहोगे, माता की छातियों की ओर मत देखो, बाहर जाकर मिट्टी-पत्थर खाकर भूख मिटाओ! और अत्याचारी शासक तुम्हारी ओर देखकर मन-ही-मन हँसेंगे, और तुम्हारी

अहिंसा की आड़ में निर्धनों का रक्त चूसकर ले जायँगे! यही है तुम्हारी शान्तिमय क्रान्ति, जिसका तुम्हें इतना अभिमान है।'

'अगर शासक अत्याचार करेंगे, तो उनके विरुद्ध आन्दोलन करना भी तो हमारा धर्म होगा।'

'धर्म? वही धर्म, जिसे तुम एक स्कूल की नौकरी के लिए बेच खाते हो? वही धर्म, जिसके नाम पर तुम स्कूल में इतिहास पढ़ाते समय इतने झूठ बकते हो?'

मैंने क्रुद्ध होकर कहा—'व्यक्तिगत आक्षेपों से कोई फ़ायदा नहीं है। ऐसे तो मैं भी पूछ सकता हूँ, तुम्हीं ने कौन बड़ा बलिदान किया है? एक आदमी को मारकर भाग आयी, यही न!'

मुझे उस पर बड़ा क्रोध आ रहा था। किन्तु जिस तरह वह छाती के बटन खोले, हाथ में तलवार लिये, चामुण्डा की तरह खड़ी मेरी ओर देख रही थी, उसे देखकर मेरा साहस ही नहीं पड़ा कि उसे निकाल दूँ! मैं प्रश्न पूछकर उसकी ओर देखने लगा। मुझे आशा थी कि वह मुझ पर से दृष्टि हटा लेगी, मेरे प्रश्न का उत्तर देते घबराएगी, क्रुद्ध होगी; किन्तु यह सब कुछ भी नहीं हुआ! वह धीरे से काग़ज़ हटाकर मेरी मेज़ के एक कोने पर बैठ गयी और तलवार की नोक मेरी ओर करती हुई बोली—'मैंने क्या किया है, सुनोगे तुम? मैंने बलिदान तो कोई बड़ा नहीं किया; लेकिन देखा बहुत कुछ है। मेरे पास बहुत समय है—अभी गोरोत्स्की का पता किसी को नहीं लगा होगा। सुनोगे तुम?'

पहले मैंने सोचा, सुनकर क्या करूँगा? अभी लेख भी लिखना है, कल स्कूल भी जाना होगा, और फिर पुलिस—इसे कह दूँ, चली जाय। लेकिन फिर एक अदम्य कौतूहल, और अपनी हृदय-हीनता पर ग्लानि-सी हुई। मैंने उठकर अँगीठी में कोयले हिलाकर आग तेज़कर दी, एक और कुर्सी उठाकर,

आग के पास रख दी, और अपनी जगह बैठकर बोला—'हाँ, सुनूँगा। आग के पास उस कुर्सी पर बैठकर सुनाओ, सर्दी बहुत है।'

वह वहीं बैठी रही, मानो मेरी बात उसने सुनी ही न हो। केवल तलवार एक ओर रखकर, कुछ आगे की ओर झुककर आग की ओर देखने लगी। थोड़ी देर देखकर चौंककर बोली—'हाँ, सुनो। मैंने घर में आराम-कुर्सी पर बैठकर यन्त्रालयों में पिसते हुए श्रमजीवियों के लिए साम्यवाद पर लेख नहीं लिखे हैं। न मैंने मंच पर खड़े होकर कृषकों को ज़बानी स्वातन्त्र्य-युद्ध की मरीचिका दिखलायी है। मैंने घर-बार, माता-पिता, पति तक को छोड़कर धक्के ही धक्के खाये हैं। सौभाग्य बेचकर अपने विश्वास की रक्षा की है...स्वत्व बचाने के लिए पिता की हत्या की है....और-और अपना यह स्त्री-रूप बेचकर देश के लिए भिक्षा माँगी है—और आज फिर माँगने निकली हूँ!'

मेरे मुँह से अकस्मात् निकल गया—'किससे ?'

इस प्रश्न से मानो उसकी विचार शृंखला टूट गयी। तलवार की ओर देखती हुई बोली—'यह फिर बताऊँगी,—वह मेरे अन्तिम—मेरे एक मात्र बलिदान की कहानी है!'

'विश्वास की और स्वत्व की रक्षा—पिता की हत्या—मुझे तो कुछ भी समझ में नहीं आया।'

'मेरे पिता पीटर्सबर्ग में पुलिस-विभाग के सदस्य थे। मेरे पति भी वहीं राजनैतिक विभाग में काम करते थे। कुटुंब में, वंश में, एक मैं ही थी, जिसने क्रान्ति का आह्वान सुना...फिर भी, कितने विरोध का सामना करना पड़ा! पहले-पहल जब मैं क्रान्ति-दल में आयी, तो लोग मुझ पर सन्देह करने लग गये। न जाने किस अज्ञात शत्रु ने उनसे कह दिया कि इनका पिता पुलिस में है, पति राजनैतिक विभाग में! इससे विनाश के अतिरिक्त और क्या आशा हो सकती है? मैंने देखा, इतनी कामना, इतनी सदिच्छा होते हुए भी

मैं अनादृता, परित्यक्ता-सी हूँ...मेरे पति को भी मेरी वृत्तियों का पता लग गया। फल-स्वरूप एक दिन मैं चुपचाप घर से निकल गयी—उन्हें भी नौकरी छिन जाने का डर था! उसके बाद—उसके बाद मेरी परीक्षा का प्रश्न उठा! पति को छोड़ देने पर भी मुझे सदस्य नहीं बनाया गया—परीक्षा देने को कहा गया। कितनी भयंकर थी वह!'

क्षण-भर आग की ओर देखने के बाद फिर उसने कहना शुरू किया—'मैं और चार और व्यक्ति पिस्तौलें लेकर एक दिन सायंकाल को निकोलस पार्क में बैठ गये। उस दिन उधर से पीटर्सबर्ग की पुलिस दो बन्दियों को लेकर जानेवाली थी। इसी पर वार करके बन्दियों को छुड़ाने का काम हमारे सिपुर्द हुआ था। यही मेरी परीक्षा थी!

'हम रात तक वहीं बैठे रहे। नौ बजे के लगभग पुलिस के बूटों की आहट आयी। हम सावधान हो गये। किसी ने पूछा—'कौन बैठा है?' हमने उत्तर नहीं दिया, गोलियाँ दागनी शुरू कर दीं। दो मिनट के अन्दर निर्णय हो गया। हमारे तीन आदमी खेत रहे; पर हमें सफलता हुई। बन्दी मुक्त हो गये। हम चारों शीघ्रता से पार्क से निकल कर अलग हो गये।'

मैं बहुत ध्यान से सुन रहा था। ऐसी कहानी मैंने कभी नहीं सुनी थी—पढ़ी भी नहीं थी ..मैंने व्यग्रता से पूछा—'फिर?'

'दूसरे दिन—दूसरे दिन मास्को में अख़बार में पढ़ा, बन्दियों को लेकर जानेवाले अफ़सर थे—मेरे पिता!'

उस छोटे से कमरे में फिर सन्नाटा छा गया। वर्षा अब भी हो रही थी। मैं विमनस्क-सा होकर छत पर पड़ रही बूँदें गिनने की चेष्टा करने लगा।

उसने पूछा—'और भी कुछ सुनोगे?'

मैंने सिर झुकाकर उत्तर दिया—'मैंने तुम लोगों पर अन्याय किया है। वास्तव में तुम्हें बहुत उत्सर्ग करना पड़ता है। मैं अभी तक नहीं जान पाया था।'

'हाँ, यह स्वाभाविक है। एक अकेले व्यक्ति की व्यथा, एक आदमी का दुख हम समझ सकते हैं। एक प्राणी को पीड़ित देखकर हमारे हृदय में सहानुभूति जगती है—एक हूक-सी उठती है—किन्तु जाति, देश, राष्ट्र, कितना विराट् होता है! इसकी व्यथा, इसके दुख से असंख्य व्यक्ति एक साथ ही पीड़ित होते हैं—इसमें इतनी विशालता, इतनी भव्यता है कि हम यही नहीं समझ पाते कि व्यथा कहाँ हो रही है—हो भी रही है या नहीं।'

'ठीक है। तुम्हें बहुत दुख झेलने पड़ते हैं; किन्तु इस प्रकार अकारण दुख झेलना, चाहे कितनी ही धीरता से झेला जाय बुद्धिमत्ता तो नहीं है।'

'हमारे दुख प्रसव-वेदना की तरह हैं, इसके बाद ही क्रान्ति का जन्म होगा। इसके बिना क्रान्ति की चेष्टा करना, क्रान्ति से फल-प्राप्ति की आशा करना, विडंबना मात्र है।'

'लेकिन हर-एक आन्दोलन किसी निर्धारित पथ पर ही चलता है, ऐसे ही तो नहीं बढ़ता?'

'क्रान्ति आन्दोलन नहीं है।'

'सुधार करने के लिए भी तो कोई आदर्श सामने रखना होता है?'

'क्रान्ति सुधार नहीं है।'

'न सही। परिवर्तन ही सही। लेकिन परिवर्तन का भी तो ध्येय होता है?'

'क्रान्ति परिवर्तन भी नहीं है।'

मैंने सोचा, पूछूँ, तो फिर क्रान्ति है क्या? किन्तु मैं बिना पूछे उसके मुँह की ओर देखने लग गया। वह स्वयं बोली—'क्रान्ति आन्दोलन, सुधार, परिवर्तन, कुछ नहीं है। क्रान्ति है विश्वासों का, रूढ़ियों का, शासन की ओर

विचार की प्रणालियों का घातक, विनाशकारी, भयंकर विस्फोट! इसका न आदर्श है, न ध्येय, न धुर! क्रान्ति विपथगा है, विध्वंसिनी है, विदग्ध-कारिणी है।'

'यह तो सब बातें हैं। कवियों का शब्द-विन्यास है। ऐसी क्रान्ति से हमें मिलेगा क्या?'

वह हँसने लगी। 'क्रान्ति से क्या मिलेगा? कुछ नहीं! जो कुछ है, शायद वह भी भस्म हो जायगा। पर इससे यह नहीं सिद्ध होता कि क्रान्ति का विरोध करना चाहिए। हमें इस बात का ध्यान भी नहीं करना चाहिये कि हमें क्रान्ति करके क्या मिलेगा।'

'क्यों?'

'कोढ़ का रोगी जब डाक्टर के पास जाता है, तो यही कहता है कि मेरा रोग छुड़ा दो। यह नहीं पूछता कि इस रोग को दूर करके इसके बदले मुझे क्या दोगे! क्रान्ति एक भयंकर औषध है, यह कड़वी है, पीड़ाजनक है, जलानेवाली है, किन्तु है औषध। रोग को मार अवश्य भगाती है। किन्तु इसके बाद, स्वास्थ्यप्राप्ति के लिए, जिस पथ्य की आवश्यकता है, वह इसमें खोजने पर निराशा ही होगी। इसके लिए क्रान्ति को दोष देना मूर्खता है।'

मैं निरुत्तर हो गया। चुपचाप उसके मुख की ओर देखने लगा। थोड़ी देर बाद बोला—'एक बात पूछूँ?

'क्या?'

'तुम्हारा नाम क्या है?'

'क्यों?'

'यों ही कुतूहल है।'

'पिता ने जो नाम दिया था, वह उस दिन छूट गया, जिस दिन विवाह

हुआ। पति ने जो नाम दिया था, उसे मैं आज भूल गयी हूँ। अब मेरा नाम मेरिया इवानोवना है।'

कुछ देर हम फिर चुप रहे। मैंने तलवार की ओर देखते हुए पूछा, 'यह—यह कैसे हुआ?'

उसके उन विचित्र नील नेत्रों की सुषुप्त ज्वाला फिर जाग उठी। वह अपने हाथों की ओर देखती हुई बोली—'यह बहुत वीभत्स कहानी है।' फिर आप-ही-आप...'नहीं, रक्त लगा है।'

कुतूहल होते हुए भी मैंने आग्रह नहीं किया। इतनी देर में मैं कुछ-कुछ समझने लगा था कि इस स्त्री (या दानवी?) से अनुनय-विनय करना व्यर्थ है। इस पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ेगा। मैं चुपचाप इसी आशा में बैठा रहा कि शायद वह स्वयं ही कुछ कह दे। मुझे निराश भी नहीं होना पड़ा।

वह आग की ओर देखती हुई धीरे-धीरे बोली—'तो सुनो। आज जो-कुछ मैं कह रही हूँ, वह मैंने कभी किसी से नहीं कहा। शायद अब किसी से कहूँगी भी नहीं। जब मैं तुम्हारा पता पूछकर यहाँ आयी, तब मुझे ज़रा भी ख़याल नहीं था कि तुमसे कुछ भी बात करूँगी। केवल रुपया माँगकर चले जाने की इच्छा से आयी थी। अब—अब मेरा ख़याल बदल गया है। मुझे रुपया नहीं चाहिये। मैं...'

'क्यों?'

'मैं अपना काम करके मास्को से भाग जाना चाहती थी; किन्तु अब नहीं भागूँगी।'

'और क्या करोगी?'

'अभी एक काम बाकी है। एक बार एक और भिक्षा माँगनी है। उसके बाद....'

वह एकाएक रुक गयी। फिर तलवार की धार पर तर्जनी फेरती हुई आप-ही-आप बोली—'कितनी तीक्ष्ण धार है यह!'

मैंने साहस करके पूछा—'भिक्षा की बात तुमने पहले भी कही थी। और बलिदान की भी। मैं कुछ समझ नहीं पाया था।'

'अब कहने लगी हूँ, तो सब-कुछ कहूँगी। अब लज्जा के लिए स्थान नहीं रह गया है। स्त्रीत्व तो पहले ही खो दिया था, आज मानवता भी चली गयी! और फिर आज के बाद सब कुछ एक हो जायगा। पर तुम चुपचाप सुनते जाओ बीच में रोकना नहीं।'

मैं प्रतीक्षा में बैठ रहा। वह इस तरह निरीह होकर कहानी कहने लगी, मानो स्वप्न में कह रही हो—मानो मशीन से ध्वनि निकल रही हो।

'तुमने माइकेल ब्रेस्की का नाम सुना है?'

'वही जो पीटर्सबर्ग में पुलिस के तीन अफ़सरों को मारकर लापता हो गये थे?'

'हाँ, वही। वे हमारी संस्था के प्रधान थे।' यह कहकर उसने मेरी ओर देखा। मैं कुछ नहीं बोला; किन्तु मेरे मुखपर विस्मय का भाव उसने स्पष्ट देखा होगा। वह फिर कहने लगी—'वे कल यहीं मास्को में गिरफ़्तार हो गये हैं।'

क्षणभर निस्तब्धता रही।

'पर उनको गिरफ़्तार करके ले जाने पर भी पुलिस को यह नहीं पता लगा कि वे कौन हैं। वे इसी सन्देह पर गिरफ़्तार किये गये थे कि शायद क्रान्तिकारी हों। मुझे इस बात की ख़बर मिली तो मैंने निश्चय किया कि जाकर पता लगाऊँ। मैं यह साधारण गँवार स्त्री की पोशाक पहनकर पुलिस विभाग के दफ़्तर में गयी। वहाँ जाकर मैंने अपना परिचय यही दिया कि मैं

उनकी बहन हूँ, गाँव से उन्हें लेने आयी हूँ। तब तक पुलिस को उन पर कोई सन्देह नहीं हुआ था; लेकिन वे इधर-उधर से—पीटर्सबर्ग से भी—पूछताछ कर रहे थे।

'पहले मैंने सोचा कि पीटर्सबर्ग से अपने साथियों को बुला भेजूँ, उनसे मिलकर इन्हें छुड़ाने का प्रयत्न करूं; लेकिन इसके लिए समय न था—न जाने कब उन्हें पीटर्सबर्ग से उत्तर आ जाय। मैं अकेली सिवाय अनुनय-विनय के कुछ नहीं कर सकती थी...उफ़! अपनी अशक्तता पर कितना क्रोध आता था! मैं दाँत पीसकर रह गयी...जब तक ऐसे समय में अपनी असमर्थता, निस्सहायता का अनुभव नहीं होता, तब तक क्रान्ति की आवश्यकता भी पूरी तरह से नहीं समझ में आ सकती।'

मेरी ओर देख, और मुझे ध्यान से सुनता पाकर वह फिर बोली—'फिर-फिर मैंने सोचा, जो कुछ मैं अकेले कर सकती हूँ, वह करना ही होगा। अगर गिड़गिड़ाने से उन्हें छुड़ा सकूँ तो यह करना होगा, चाहे बाद में मुझे फाँसी पर भी लटकना पड़े। मैंने निश्चय कर लिया—मेरी हिचकिचाहट दूर हो गयी। कल ही शाम को मैं जनरल कोल्पिन के बँगले पर गयी। उस समय वहाँ कर्नल गोरोवस्की भी मौजूद था। पहले तो मुझे अन्दर जाना ही नहीं मिला, दरबान ने तलाशी लेकर जो कुछ मेरे पास था, तलाशी में निकाल कर रख लिया। बहुत गिड़गिड़ाकर मैं अन्दर जा पायी।

'पहले जनरल कोल्पिन ने मुझे देखकर डाँट दिया। फिर न जाने क्या सोचकर बोला—'क्यों, क्या बात है?' मैंने अपनी गढ़ी हुई कहानी कह सुनायी कि मेरा भाई निर्दोष था, पुलिस ने यों ही उसे पकड़ लिया। जनरल साहब बहुत बड़े आदमी हैं, सब कुछ उनके हाथ में है, जिसे चाहें उसे छोड़ सकते हैं...मैं उसके आगे रोयी भी, उसके पैर भी पकड़े—उसके, जिसकी मैं ज़बान खींच लेती!'

'वह चुपचाप सुनता रहा। जब मैं कह चुकी, तब भी कुछ नहीं बोला। थोड़ी देर बाद उसने आँख से गोरोवस्की को इशारा किया। कुछ कानाफूसी हुई। गोरोवस्की ने मुझे कहा—'इधर आओ, तुमसे कुछ बात करनी है। मैं उसके साथ दूसरे कमरे में चली गयी। वहाँ जाकर वह बोला—'देखो' अभी सब कुछ हमारे हाथ में है; पर कल के बाद नहीं रहेगा। हमें उसे अदालत में ले जाना होगा। फिर—'

यह कहकर वह चुप हो गया। मैंने कहा—'आप मालिक हैं, जैसा कहेंगे, मैं करूँगी।' वह बोला—'जनरल साहब तुम्हारे भाई पर दया करने को तैयार हैं—एक शर्त पर।' मैंने उत्सुक होकर पूछा—'क्या?' वह मेरे बहुत पास आ गया। फिर धीरे-धीरे बोला—'मेरिया इवानोवना, तुम अपूर्व सुन्दरी हो....'

वह बोलते-बोलते चुप हो गयी। मैंने सिर उठाकर उसकी ओर देखा, उसकी आँखें विचित्र ज्योति से चमक रही थीं। वह एकाएक मेज़ पर से उठकर मेरे सामने खड़ी हो गयी। बोली—'जानते हो, उसकी क्या शर्त थी, जानते हो? ऐसी शर्त तुम्हें स्वप्न में भी न सूझेगी....यही एक शर्त थी, यही एकमात्र बलिदान था, जिसके लिए मैं तैयार होकर नहीं गयी थी...'

वह फिर चुप हो गयी। दोनों हाथों से अपनी कमीज़ का कालर और गले का रुमाल पकड़ कर कुछ देर मेरी ओर देखती रही। फिर एकाएक झटका देकर कमीज़ और रुमाल फाड़ती हुई बोली—'देखो, अध्यापक! ऐसा सौंदर्य तुमने कभी देखा है?'

उसका मुख, जो कि रुमाल और टोपी से ढका हुआ था, अब एकदम स्पष्ट दीख रहा था। उसके नीचे उसका गला और वक्ष भी खुला हुआ था... उसका वह अपूर्व लावण्य, वह प्रस्फुटित सौन्दर्य, अधरों पर दबी हुई विषादयुक्त मुसकान, हेमवर्ण कंठ और वक्ष...ऐसा अनुपम सौन्दर्य सचमुच मैंने पहले नहीं देखा था....मेरे शरीर में बिजली दौड़ गयी—फिर मैंने दृष्टि फेर ली...

किन्तु उसकी वह आँखें ...विस्फारित, निर्निमेष ..उनका वह तुषारकणों की तरह शीतल प्रदीपन....उनमें विराग, क्रोध, करुणा, व्यथा की अनुपस्थिति.... वह शुक्रतारे की हरित ज्योति... !

'यह है बलि! यह स्त्री का रूप है! माइकेल क्रेस्की की मुक्ति का मूल्य!'

मैंने चाहा, कुछ कहूँ, चिल्लाऊँ : पर बहुत चेष्टा करने पर भी आवाज़ नहीं निकली!

'उसने, उस नरपिशाच गोरोवस्की ने, मेरे पास आकर कहा—'मेरिया इवानोवना, तुम अपूर्व सुन्दरी हो—तुम्हारे लिए अपने भाई को छुड़ा लेना साधारण-सी बात है'... मुझ पर मानो बिजली गिरी। क्षणभर मुझे इस शर्त का पूरा अभिप्राय भी न समझ आया। फिर समुद्र की लहरों की तरह मेरे हृदय में क्रोध उमड़ आया। मेरा मुख लाल हो गया। मैंने कहा—'पापी! कुत्ते' और तीव्रगति से बाहर निकल गयी; किन्तु पीछे उसकी हँसी और ये शब्द सुनायी पड़े—'कल शाम तक प्रतीक्षा है, उसके बाद—'

'बाहर ठंडी हवा में आकर मेरी सुध कुछ ठिकाने आयी। मैं शान्त होकर सोचने लगी, मेरा क्या कर्तव्य है? माइकेल क्रेस्की का गौरव अधिक है या...? उन्हें मर जाने दूँ? कभी नहीं! छुड़ाऊँ तो कैसे? इसी आशा में बैठी रहूँ कि शायद पुलिस को पता न लगे? प्रतारणा! कहीं वे उन्हें पहचान गये तो .. पीटर्सबर्ग से किसी को बुलाऊँ? पर उसके लिए समय कहाँ है। अकेली क्या करूँगी? वह शर्त—।'

'प्रधान, हमारा कार्य, देश, राष्ट्र! इसके विरुद्ध क्या? एक स्त्री का सतीत्व...! मैंने निर्णय कर लिया। शायद मुझसे ग़लती हुई: शायद इस निर्णय के लिए संसार, मेरे अपने क्रान्तिवादी बन्धु, मेरे नाम पर थूकेंगे; शायद मुझे नरक की यातना भोगनी पड़ेगी; पर जो यातना मैंने निर्णय करने में सही है, उससे अधिक नरक में भी क्या होगा?'

वह फिर ठहर गयी। अब की बार मुझसे नहीं रहा गया। मैंने अत्यन्त व्यग्रता से पूछा—'क्या निर्णय किया है?'

'अभी, यहीं से, जनरल कोल्पिन के घर जाऊँगी। पर सुनो, अभी मेरी कहानी समाप्त नहीं हुई। आज छः बजे मैं कर्नल गोरोवस्की के घर गयी। मेरे आते ही वह हँसकर बोला—'मेरिया, तुम जितनी सुन्दर हो, उतनी ही बुद्धिमती भी हो। इज्ज़त तो बारबार बिगड़ कर बन जाती है, भाई बारबार नहीं मिलते!' मैंने सिर झुकाकर कहा—'हाँ! आप जनरल साहब को कहला भेजें कि मुझे उनकी शर्त मंज़ूर है।'

'वह उस समय वर्दी उतार कर रख रहा था। बोला—'तुम यहीं ठहरो, मैं टेलिफ़ोन पर कहे देता हूँ।' वह कोने में टेलिफ़ोन पर बात करने लगा। उसकी पीठ मेरी ओर थी। मुझे एकाएक कुछ सूझा....मैंने म्यान में से उसकी तलवार निकाल ली—दबे पाँव जाकर उसके पीछे खड़ी हो गयी। टेलिफ़ोन पर बातचीत हो चुकी—गोरोवस्की उसे बन्द करके घूमने को ही था कि मैंने तलवार उसकी पीठ में भोंक दी! उसने आह तक नहीं की—अनाज की बोरी की तरह भूमि पर बैठ गया! फिर मैंने उसकी लोथ उठाकर खिड़की से बाहर डाल दी—और भाग निकली!'

मैंने पूछा—'तुम्हारे इन हाथों में इतनी शक्ति!' वह हँस पड़ी। बोली—'मैं क्रान्तिकारिणी हूँ। यह देखो!'

उसने तलवार उठायी, एक हाथ से मूठ और दूसरे से नोक थामकर बोली—'यह देखो!' देखते देखते उसने उसे चपटी ओर से घुटने पर मारा—तलवार दो टूक हो गयी! उसने वे दोनों टुकड़े मेरी मेज़ पर रख दिये।

'मैंने पूछा—अब क्या करोगी?'

'अब कोल्पिन के यहाँ जाऊँगी, फ्रान्को को छुड़ाऊँगी। उसके बाद?

उसने अपनी जेब में हाथ डाल एक छोटा-सा रिवाल्वर निकाला—'यह भी गोरोवस्की के यहाँ से मिल गया।'

'पर—इसका क्या करोगी?'

'प्रयोग!' कहकर उसने उसे छिपा लिया।

इसके बाद शायद चार-पाँच मिनट फिर कोई न बोला। मैंने उसकी सारी कहानी का मन-ही-मन सिंहावलोकन किया। उसमें कितनी बीभत्सता, कितनी करुणा थी! और उसका दोष क्या था? केवल इतना ही कि वह क्रान्तिकारिणी थी! एकाएक मुझे एक बात याद आ गयी। मैंने पूछा—'तुमने कहा था कि तुमने पहले भी भिक्षा माँगी थी—इसी प्रकार की। वह क्या बात थी, बताओगी?'

वह अब तक खड़ी थी, अब फिर मेज़ पर बैठ गयी। बोली—'वह पुरानी बात है। उन दिनों की, जब मैं पीटर्सबर्ग से भागी थी। अकेली नहीं, साथ में एक और लड़की भी थी—तुमने पॉलिना का नाम सुना है?'

'हाँ, सुना तो है; इस समय याद नहीं आ रहा, कहाँ।'

'वह नोवगोरोड् में पकड़ी गयी थी—वेश्याओं की गली में—और गोली से उड़ा दी गयी थी।'

'हाँ, मुझे याद आ गया। उसके बाद बहुत शोर भी मचा था कि यह क्यों हुआ; लेकिन कुछ पता नहीं लगा।'

'हाँ, उस दिन मैं भी नोवगोरोड् में थी—उसी घर में! हम दोनों वहाँ रहती थीं; एक वेश्या के यहाँ ही! वहीं, नित्यप्रति रात को लोग आते थे, हमारे शरीरों को देखते थे, गन्दे संकेत करते थे, और हम बैठी सब-कुछ देखा करती थीं! वहाँ, जब वे चूसे हुए नींबू की तरह, बीमारियों से घुले हुए पूँजीपति साफ़-साफ़ कपड़े पहनकर इठलाते हुए आते थे—उफ़! जिसने

वह नहीं देखा, वह पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का दूरव्यापी परिणाम नहीं समझ सकता! धन के आधिक्य से ही कितनी बुराइयाँ समाज में आ जाती हैं—इसको जानने के लिए वह देखना ज़रूरी है!

'फिर वे आसपास की कोठरियों में चले जाते थे....किसी-किसी में अँधेरा हो जाता था...फिर....'

थोड़ी देर वह चुप रही, फिर बोली—'कभी-कभी उनमें एकाध नवयुवक भी आता था—शान्त, सुन्दर, सुडौल...उनके आने पर वह घर—और उनमें रहनेवाले—कितने विद्रूप, कितने बीभत्स मालूम होने लगते थे.... किन्तु शायद अगर वे न आते, तो हमारी वहीं मृत्यु हो जाती—इतना ग्लानिमय दृश्य था वह!

'यही थे हमारे सहायक, हमारे सहकारी...हमें पीटर्सबर्ग से जो ऐलान बाँटने के लिए आते थे, वे हम इन्हें दे देती थीं—ये उन्हें बाँट आते थे। नोवगोरोड् में हमने अपनी संस्था की शाखा इसी तरह बनायी। फिर नोवगोरोड् से आर्केंजेल, फिर जेरोस्लावूल, फिर पीटर्सबर्ग और फिर वापस नोवगोरोड्... आर्केंजेल में तीन गवर्नरों की हत्या हुई, जेरोस्लावूल में राजकर्मचारियों के घर जला दिये गये, नोवगोरोड् में पुलिस के कई अफ़सर मारे गये। फिर—पॉलिना पकड़ी गयी, और मैं मास्को में आ गयी.... '

'पर वह पकड़ी कैसे गयी?'

'वे मुहल्ले, जिनमें हम रहते थे, रात ही को खुलते थे। दिन में वे वैसे ही पड़े रहते थे, जैसे विस्फोट के बाद ज्वालामुखी का फटा हुआ शिखर... पर उस दिन ज़रूरी काम था—पॉलिना मोटा सा कोट पहन, मुँह ढँक कर बाहर निकली। उसकी जेब में कुछ पत्र थे और एक पिस्तौल, और वह पत्र पहुँचाने जा रही थी...इसी समय—'

घड़ी में टन्! टन्! ग्यारह बज गये। वह चौंककर उठी और बोली—'बहुत देर हो गयी—अब मैं जाती हूँ।'

'कहाँ!'

'कोल्पिन के यहाँ, अन्तिम भिक्षा माँगने!'

उसने शीघ्रता से अपने कोट के बटन बन्द किये और उठ खड़ी हुई। मैं भी खड़ा हो गया।

मैंने रुक-रुककर कहा—'स्वातन्त्र्य-युद्ध में बहुत सिरों की बलि देनी पड़ती है!' मानो मैं अपने-आपको ही समझा रहा होऊँ।

वह बोली—'ऐसे स्वातन्त्र्य-युद्ध में सिर अधिक टूटते हैं या हृदय—कौन कह सकता है?'

मैं चुप होकर खड़ा रहा। वह कुछ हँसी, फिर बोली—'जीवन कितना विचित्र है, जानते हो, अध्यापक? मैं आयी थी धन लेकर विलुप्त हो जाने; और चली हूँ, स्मृति-स्वरूप वह बोकर—वह अशान्ति का बीज!'

जिधर उसने संकेत किया था, मैं उधर देखता ही रह गया। लैंप और आग के प्रकाश में लाल-लाल चमक रही थी—उस टूटी हुई तलवार की मूठ!

सहसा किवाड़ खुलकर बन्द हो गया। मेरा स्वप्न टूट गया। मैंने आँख उठाकर देखा।

वर्षा अब भी हो रही थी—ओले भी पड़ रहे थे। किन्तु वह—वह वहाँ नहीं थी। था अकेला मैं—और वह अशान्ति का बीज!

वह बीज कैसे प्रस्फुटित हुआ, यह फिर कहूँगा। अभी उस दिन की घटना पूरी कहनी है।

वह चली गयी, पर मैं फिर अपना लेख नहीं लिख सका। एक बार मैंने काग़ज़ों की ओर देखा—'सफल क्रान्ति!' दो शब्द मेरी ओर देखकर हँस रहे थे....'विस्मृत आहुतियों का शान्ति जनक निष्कर्ष!' प्रवंचना! मैंने वे काग़ज़ फाड़कर आग में डाल दिये! फिर भी शान्ति नहीं मिली। मैं सोचने लगा, इसके बाद वह क्या करेगी? कोल्पिन के घर में....माइकेल क्रेस्की तो शायद मुक्त हो जायँगे; किन्तु उसके बाद?....

उस उद्धार के फलस्वरूप आनन्द, उल्लास, गौरव—कहाँ होंगे? वहाँ होगी व्यथा, प्रज्वलन, पशुता का ताण्डव! जहाँ स्वतन्त्रता का उद्दाम आह्वान होना चाहिये, वहाँ क्या होगा?—एक स्त्री हृदय के टूटने की धीमी आवाज़।

मैंने जाकर लैंप बुझा दिया। कमरे में अँधेरा छा गया, केवल कहीं-कहीं अँगीठी की आग से लाल-लाल प्रकाश पड़ने लगा, और उसमें कुर्सी की टाँगों की छाया एक विचित्र नृत्य करने लगी! मैं उसे देखते-देखते फिर सोचने लगा—इसी समय कोल्पिन के घर में न जाने क्या हो रहा होगा...मेरिया वहाँ पहुँच गयी होगी—शायद अब तक क्रेस्की मास्को की किसी गली में छिपने के लिए चल पड़े हों। वे क्या सोचते होंगे कि उनका उद्धार कैसे हुआ? मेरिया की बात उन्हें मालूम होगी? शायद वहाँ उनका मिलन हो जाय—किन्तु कोल्पिन क्यों होने देगा? मेरिया के बलिदान की बात शायद कोई न जान पायेगा—किसी को भी मालूम नहीं होगा...असीम समुद्र में बहते हुए एकाएक बुझ जानेवाले दीप की तरह उसकी कथा वहीं समाप्त हो जायगा—और मैं उसका नाम तक नहीं जान पाऊँगा! कैसी विडंबना है यह!

घड़ी में बारह बजे। मैं चौंका एक अत्यन्त बीभत्स दृश्य मेरी आँखों के सामने नाच गया। कोल्पिन और मेरिया...उस दृश्य के विचार को भी मैं नहीं सह सका! मैंने उठकर किवाड़ खोल दिये और दरवाज़े के बीच में खड़ा होकर वर्षा को देखने लगा। कभी-कभी एक-आध ओला मेरे ऊपर पड़ जाता

था; किन्तु मुझे उसका ध्यान भी नहीं हुआ। मैं आँखें फाड़कर रात्रि के अन्धकार में वर्षा की बूँदें देखने की चेष्टा कर रहा था......

पूर्व में जब धुँधला सा प्रकाश हो गया, तब मेरा वह जाग्रत स्वप्न टूटा। तब मुझे ज्ञान हुआ कि मेरे हाथ-पैर सर्दी से संज्ञा शून्य हो गये हैं। मैंने मानों वर्षा से कहा—'वहाँ जो कुछ होना था, अब तक हो चुका होगा।' फिर मैं किवाड़ बन्दकर अन्दर जाकर लेट गया और अपने ठिठुरे हुए अंगों को गर्मी पहुँचाने के लिए कंबल लपेट कर पड़ रहा......

उस दिन की घटना यहीं समाप्त होती है। पर उसके बाद एक-दो घटनाएँ और हुईं, जिनका इससे घनिष्ठ सम्बन्ध है। वे भी यहीं कहूँगा।

इसके दूसरे दिन मैंने पढ़ा—'कल रात को जनरल कोल्पिन और कर्नल गोरोवस्की दोनों अपने घरों में मारे गये। जनरल कोल्पिन की हत्या एक-स्त्री ने रिवाल्वर से की। उनको मारने के बाद उसने उसी रिवाल्वर से आत्मघात कर लिया। कर्नल गोरोवस्की घर में तलवार से मारे पाये गये। कहा जाता है कि उनकी अपनी तलवार और रिवाल्वर दोनों गायब हैं। जिस रिवाल्वर से जनरल कोल्पिन की हत्या की गयी उस पर गोरोवस्की का नाम लिखा हुआ है, इससे अनुमान किया जाता है कि गोरोवस्की और कोल्पिन की घातक यही स्त्री है। पुलिस ज़ोरों से अनुसन्धान कर रही है, लेकिन अभी इसके रहस्य का कुछ पता नहीं लगा है।'

'क्रेस्की का कहीं नाम भी नहीं था।'

यह रहस्य आज भी नहीं खुला। हाँ, इसके कुछ दिन बाद मैंने सुना कि माइकेल क्रेस्की पीटर्सबर्ग के पास पुलिस से लड़ते हुए मारे गये.......

वह रहस्य दबा ही रह गया। शायद माइकेल क्रेस्की को स्वयं भी कभी यह नहीं ज्ञात हुआ कि वे मास्को से उस दिन आधी रात के समय क्यों एकाएक छोड़ दिये गये।......

किन्तु अशान्ति का जो बीज मेरे हृदय में बोया गया था, वह नहीं दब सका। जिस दिन मैंने सुना कि माइकेल क्रेस्की मारे गये; उस दिन मेरी धमनियों में रूसी रक्त खौल उठा...क्रेस्की के कारण नहीं, किन्तु मेरिया के शब्दों की स्मृति के कारण। मैंने अपने स्कूल में एक व्याख्यान दिया, जिसमें जीवन में पहली बार विशुद्ध हृदय से मैंने क्रान्ति का समर्थन किया था......

इसके बाद मुझे रूस से निर्वासित कर दिया गया, क्योंकि क्रान्ति के पोषकों के लिए रूस में स्थान नहीं था!

आज मैं पेरिस में रहता हूँ। मास्को की तरह अब भी मैं अध्यापन का काम कर रहा हूँ; किन्तु अब उसमें मेरी रुचि नहीं है। आज भी मैं क्रान्ति विषयक पुस्तकों का अध्ययन करता हूँ; किन्तु अब पढ़ते समय मेरा ध्यान अपनी अनभिज्ञता की ओर ही रहता है। आज भी मेरा वह संग्रह उसी भाँति पड़ा है; किन्तु अब उसकी सब से अमूल्य वस्तु है वह टूटी हुई तलवार! हाँ, अब मैंने व्याख्यान देना छोड़ दिया है—अब एक विचित्र विषादमय अशान्ति, एक विक्षोभमय ग्लानि, मेरे हृदय में घर किये रहती है।

ज्वालामुखी में से आग निकलती है और बुझ जाती है; किन्तु जमे हुए लावा के काले काले पत्थर पड़े रह जाते हैं। आँधी आती है और चली जाती है; किन्तु वृक्षों की टूटी हुई शाखें सूखती रहती हैं। नदी में पानी चढ़ता है और उतर जाता है, किन्तु उसके प्रवाह से एकत्रित घास, फूस, लकड़ी, किनारे पर पड़ी सड़ती रह जाती हैं। यह टूटी हुई तलवार भी उसके आवागमन का स्मृति-चिह्न है। जब भी इसकी ओर देखता हूँ, दो धधकते हुए, निर्निमेष वृत्त मेरे आगे आ जाते हैं। मैं सहसा पूछ बैठता हूँ, 'मेरिया इवानोवना, तुम मानवी थीं, या दानवी, या स्वर्गभ्रष्टा विपथगा देवी?'

श्री यशपाल

जन्म-स्थान—फीरोज़पुर

जन्म—१९०३ ई०
निवास—लखनऊ

रचना—१९३८ ई०
पेशा—लिखना

श्री यशपाल के माता-पिता पहाड़ों से घिरे प्रकृति की क्रीड़ा-भूमि कांगड़ा (पंजाब का उत्तरी हिस्सा) ज़िले के रहनेवाले थे, जहाँ सौंदर्य, सुगन्धि और सरसता एक दूसरे के गले में बाँहें डालकर झूमते रहते हैं, जहाँ प्रकृति का बालरूप, क्रीड़ा-निरत स्वभाव, देखनेवाले के हृदय में अनजान ही घर कर लेता है; मगर यशपाल का जन्म हुआ, फीरोज़पुर छावनी की गंभीर आबोहवा में। वहाँ शिशु ने कलियों के चटखने के बदले सिपाहियों के बूटों की मचामच, कोयल की कूक के बदले कवायद के कर्कश स्वर, प्रकृति की शान्त मनोरम गोद के बदले कड़ा डिसिप्लिन, और फटकार ही देखी सुनी होगी। इसीलिए यशपाल पर दो भिन्न भिन्न स्थानों के अलग अलग असर पड़े तो कुछ अचरज नहीं। आप यशपाल की रचनाओं में उनके दोनों पहलुओं को देख सकते हैं। एक पहलू में कवि यशपाल और दूसरे में मार्क्सवादी कठोर क्रांतिकारी यशपाल नज़र आते हैं।

माता आर्यसमाजी थीं, इसीलिए बालक यशपाल पढ़ने के

वास्ते गुरुकुल, कांगड़ी भेजे गये। सात साल तक वहाँ पढ़ते रहे, मगर आबोहवा माफ़िक न हुई तो डी. ए. वी. कालेज, लाहौर में दाख़िल हुए। मैट्रिक में वज़ीफ़ा लेकर पास हुए। सन् १९२० के असहयोग आन्दोलन में पढ़ना-लिखना छोड़कर कांग्रेस का प्रचार करने के वास्ते देहातों में घूमते रहे। लेकिन ख़ुद को भी उस काम से संतोष न हुआ तो लाला लाजपतराय के नेशनल कालेज में दाख़िल हुए। ग्रैजुएट बनकर पीछे वहीं अध्यापक भी रहे। उस काम में भी जी न लगा, तो सब कुछ छोड़छाड़-"हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातंत्र सेना" में सम्मिलित हुए।

नेशनल कालेज में आपके सहपाठियों में शहीद सरदार भगतसिंह, सुखदेव वग़ैरह भी थे। संगति का असर होता है, असर न भी हो तो संगति-दोष तो भोगना ही पड़ता है। १९२९ ई. में असेम्बली बम-केस हुआ। भगतसिंह वग़ैरह पकड़े गये। एक बम-फैक्टरी भी पकड़ी गयी। उसके लोग भाग निकले; उनमें एक यशपाल भी थे। कई साल तक फ़रार रहे। इस बीच सरकार ने इन पर वायसराय बम-काँड वग़ैरह कई अभियोग लगाये। सन् १९३२ की फ़रवरी में—जब ये इलाहाबाद में कहीं थे—पुलिस ने पता लगा लिया। रात में घर घेर लिया गया। गोलियाँ चलीं, मगर आप पकड़ लिये गये। फिर क्या था; १४ साल की सख़्त क़ैद की सज़ा सुनायी गयी। जेल में बन्द किये गये।

६ साल तक शरीर सड़ता रहा, मगर अध्ययन की सुविधा थी, इसलिए अन्दर का लेखक बनता रहा। सातवें वर्ष में शरीर ने भी विद्रोह किया। मुँह में ख़ून आने लगा। उसी समय कांग्रेस-मंत्रि-मंडल ने प्रान्तों का शासन हाथ में लिया। बहुत से क्रांति-कारियों के साथ यशपाल भी आज़ाद कर दिये गये। बस, उस जीवन का क्रम बदला।

जेल से बाहर आकर भी पंजाब जाने की इजाज़त नहीं थी, इसलिए लखनऊ में बसेरा बनाया और 'विप्लव' नाम का मासिक-पत्र निकालना शुरू किया। मगर दो साल के बाद ही १२ हज़ार की ज़मानत तलब कर सरकार ने उसे कुचल दिया। फिर आप कुछ ट्रैक्ट वग़ैरह छापते रहे और किताबें लिखते रहे। फिर भारत-रक्षा-क़ानून में सन् १९४१ में, गिरफ़्तार कर लिये गये। वहाँ से अभी छूटे हैं और लिख रहे हैं।

यशपाल का सारा जीवन ही नाटक है, जिसमें भयानक, वीर, शृंगारादि कई रस हैं। आपका विवाह भी नाटकीय ढंग से ही हुआ। आप बरेली सेंट्रल जेल में थे। सामने १० साल सज़ा काटने को पड़ी थी। एक दिन जेल का फाटक खुला और यशपाल के सामने आकर एक युवती ने कहा—मैं तुमसे विवाह करना चाहती हूँ। बस, काग़ज़ पर दोनों ने दस्तख़त किये। युवती बाहर आयी। लोहे के भयंकर फाटक खड़खड़ा कर फिर

बन्द हो गये। शादी हो गयी। वह युवती और कोई नहीं, लाहौर के संपन्न कपूर परिवार की प्रकाशवती थीं जो क्रांतिकारी दल की एक सदस्या थीं और कभी फ़रार भी थीं। आजकल आप दोनों साहित्य यज्ञ में लगे हुए हैं।

श्री यशपाल साहित्य के आसमान में एकाएक आये और देखने-देखने आभा से चमकने लगे। आपमें कलाकार की भावुकता और सौंदर्यबोध की वासना बहुत उच्च कोटि की है; फिर भी एक जागरूक हिन्दुस्तानी नौजवान की हैसियत से आप वर्तमान से आँख मूँदकर नहीं चल सकते हैं। उन्हीं कवि और विचारक यशपाल में संघर्ष चल रहा है और उसके फलस्वरूप हमें कुन्दन की दमकवाला एक दम नया साहित्य प्राप्त हो रहा है। आप इस युग के ही नहीं, बल्कि आनेवाले युग के भी लेखक हैं, विचारक हैं, चित्रकार हैं।

आपके उपन्यास, कहानियाँ तथा निबंध विचारोत्तेजक हैं। पाठकों को सोचने के लिए मज़बूर करते हैं। आपकी कुछ कहानियाँ तो बेजोड़ हैं। खासकर 'मक्रील,' 'अपनी चीज़,' 'हलाल का पैसा,' 'ज्ञानदान,' आदि कहानियाँ हिन्दी को गौरव प्रदान करने वाली हैं। अभी यशपाल साहित्य-क्षेत्र में नवागंतुक हैं, उग रहे हैं, आपसे भाषा और साहित्य को बड़ी बड़ी उम्मीदें हैं।

आपकी शैली अच्छी है, जैसी विचारक की होनी चाहिये।

फिर भी भाषा में अभी और परिमार्जन और चुस्ती की आवश्यकता है। यशपाल में जब कहीं कहीं तीव्र प्रोपगैंडा का भाव आ जाता है, या जब कहीं भर्ती के पेज आने लगते हैं तब कलाकार का आसन हिलता-सा दिखाई पड़ता है। प्रगतिशील लेखक को इस तरफ़ ध्यान देना ही होगा।

आपकी यह 'दुख' कहानी सौ फ़ी सदी आपकी है। उस पर आपकी पूरी छाप है। यह कहानी आपकी विचारधारा व शैली का सुन्दर नमूना है। दुख शब्द एक ही है, मगर अलग-अलग व्यक्तियों के वास्ते उसका रूप अलग अलग है। इस कहानी में दिलीप की पत्नी हेमा के दुख और उस छोटे लड़के की माँ के दुख —दोनों के दुखों में कितना अंतर है? मखमल पर चलनेवाले, कुत्तों को दूध-मलाई खिलानेवाले अमीर को ब्रिटेनिया बिस्कुट और केक के बदले देशी कचौड़ियाँ या पराठे मिलें तो उसको बड़ा दुख होता है—ऐसे लोगों को नमक के बिना सूखी रोटी खानेवाले या पेट के नीचे कपड़ा दबाकर सो जानेवाले का दुख क्या मालूम होगा? लेखक ने उस तरह के दोनों दुखों को तराज़ू पर रख कर तोला है। पूरा पढ़ जाइये तो एक तीखी व्यथा का अनुभव करेंगे। अन्त में जब लेखक कहता है—"काश! तुम जानतीं दुख किसे कहते हैं। ° तुम्हारा यह 'रसीला दुख' तुम्हें न मिले, तो ज़िन्दगी दूभर हो जाय।"—तो हम सोचते हैं—अमीरों का

दुख रसीला होता है और गरीबों का प्राण लेवा। दुखों में भी इतना अंतर है? और फिर क्यों और कैसे—एक के बाद एक उठने लगते हैं प्रश्न।

रचनाएँ :—

उपन्यास—दादा कामरेड, देशद्रोही।

कहानी संग्रह—पिंजरे की उड़ान, वो दुनियाँ, ज्ञानदान, तर्क का तूफ़ान।

निबंध—चक्कर क्लब, न्याय का संघर्ष, मार्क्सवाद, गांधीवाद की शव-परीक्षा, सत्य और अहिंसा की परख।

दुख

जिसे मनुष्य सर्वापेक्षा अपना समझकर भरोसा करता है, जब उसी से अपमान और तिरस्कार प्राप्त हो, तब मन किस प्रकार वितृष्णा से भर जाता है; कैसे एकदम मर जाने की इच्छा होने लगती है: इसे शब्दों में बता सकना संभव नहीं।

दिलीप ने हेमा को कितनी स्वतंत्रता दी थी; कितना वह उसका आदर करता था; कितनी आन्तरिकता से वह उसके प्रति अनुरक्त था? बहुत से लोग उसे 'अति' कहेंगे। इस पर भी जब वह उसे संतुष्ट न कर सका और हेमा केवल दिलीप के उसकी सहेली के साथ दूसरे 'शो' में सिनेमा देख आने के कारण रात भर रूठी रहकर सुबह उठते ही माँ के घर चली गयी, तब उसके मन के क्षोभ का अंत न रहा।

सितम्बर का अन्तिम सप्ताह था। वर्षा का समय बीत जाने पर भी दिन भर पानी बरसता रहा। दिलीप बैठक की खिड़की और दरवाज़ों पर पर्दे डाले बैठा था। वितृष्णा और ग्लानि में समय स्वयं यातना बन जाता है। एक एक मिनट गुज़रना मुश्किल हो जाता है। समय को बीतता न देख दिलीप खीझ कर सो जाने का यत्न करने लगा। इसी समय ज़ीने पर से छोटे भाई के धम-धम कर उतरते चले आने का शब्द सुनायी दिया। अलसाई हुई आँख को आधा खोल उसने दरवाज़े की ओर देखा।

छोटे भाई ने पर्दे को हटाकर पूछा—'भाई जी, आपको कहीं जाना न हो तो मैं मोटर-साइकिल ले जाऊं?'

इस विघ्न से शीघ्र छुटकारा पाने के लिए दिलीप ने हाथ के इशारे से उसे इजाज़त दे आँखें बन्द कर लीं।

दीवार पर टंगे क्लाक ने कमरे को गुँजाते हुए छः बज जाने की सूचना दी। दिलीप को अनुभव हुआ—क्या वह यों ही क़ैद में पड़ा रहेगा। उठकर खिड़की का पर्दा हटाकर देखा बारिश थम गयी थी। अब उसे दूसरा भय हुआ: कोई न कोई आ बैठेगा और अप्रिय चर्चा चला देगा।

वह उठा, भाई की साइकिल ले, गली के कीचड़ से बचता हुआ और उससे अधिक लोगों की निगाहों से छिपता हुआ वह मेरे दरवाज़े से बाहिर निकल, शहर की पुरानी फ़सील के बाग़ में से होता हुआ मिंटो पार्क जा पहुँचा। उस लम्बे चौड़े मैदान में पानी से भरी घास पर पछवा के तेज़ झोंकों से ठिठुरने के लिए उस समय कौन आता?

उस एकान्त में एक बेंच के सहारे साइकिल को खड़ा कर वह उस पर बैठ गया। सिर पर से टोपी उतार कर उसने बेंच पर रख दी। सिर में ठण्ड लगने से उसके मस्तिष्क की व्याकुलता कुछ कम हुई।

एक ख़्याल आया, यदि ठंड लग जाने से वह बीमार हो जाय, उसकी

हालत खराब हो जाय तो वह चुपचाप शहीद की तरह अपने दुख को अकेला ही सहेगा। 'किसी को' अपने दुख का भाग लेने के लिए न बुलायेगा।

जो उस पर विश्वास नहीं कर सकता, जो उसके हृदय की कोमलता को अनुभव नहीं कर सकता, उसे क्या अधिकार कि उसके दुख का भाग बँटाने आये?

एक दिन मृत्यु दबे पाँव आयेगी और उसके रोग के कारण, हृदय की व्यथा और रोग को ले, उसके सिर पर सान्त्वना का हाथ फेर उसे शान्त कर चली जायेगी। उस दिन जो लोग रोने बैठेंगे, उनमें हेमा भी होगी। उस दिन उसे खोकर हेमा अपने नुकसान का अन्दाज़ा कर अपने व्यवहार के लिए पछतायेगी। यही बदला होगा, दिलीप के चुपचाप दुख सहते जाने का। निश्चय कर उसने संतोष का एक दीर्घ निश्वास लिया और करवट बदल उस ठण्डी हवा को खाने के लिए बैठ गया।

समीप तीन फर्लांग पर मुख्य रेलवे लाइन से कितनी ही गाड़ियाँ गुज़र चुकी थीं; परन्तु उधर दिलीप का ध्यान न गया था। अब जब फ्रंटियर मेल तूफ़ान वेग से तीव्र कोलाहल करती हुई गुज़री तो दिलीप ने उस ओर देखा। लगातार फ़र्स्ट और सेकण्ड के डिब्बों से निकलनेवाले तीव्र प्रकाश से वह समझ गया -फ्रंटियर मेल जा रहा है, साढ़े नौ बज गये हैं।

अपने प्रति किये गये अन्याय के प्रतिकार की एक दिन संभावना देख उसका मन कुछ हलका हो गया था। वह लौटने के लिए उठा। शरीर में शैथिल्य की मात्रा बाक़ी रहने के कारण साइकिल पर न चढ़ वह पैदल-पैदल ही बाग़ों-बाग़, बादशाही मसजिद से टकसाली दरवाज़े और टकसाली से भाटी दरवाज़े पहुँचा। इस मार्ग से उसे कोई भी व्यक्ति दिखाई न दिया। सड़क के किनारे स्तब्ध खड़े बिजली के लैंप निष्काम और निर्विकार भाव से अपना प्रकाश सड़क पर डाल रहे थे। मनुष्यों के अभाव की कुछ भी परवाह न

कर, लाखों पतंगे गोल बाँध-बाँधकर इन लैंपों के चारों ओर नृत्य कर रहे थे। ये सौर-जगत के अद्भुत नमूने थे। प्रत्येक पतंगा एक नक्षत्र की भांति अपने-अपने मार्ग पर चक्कर काट रहा था। कोई छोटा, कोई बड़ा दायरा बना रहा था। कोई दाएँ को, कोई बाएँ को, कोई आगे को, कोई विपरीत गति में, निरंतर चक्कर काटते चले जा रहे थे। कोई किसी से टकराता नहीं था। वृक्षों के भीगे पत्ते लैंपों की किरणों में चमचमा रहे थे।

एक लैंप के नीचे से आगे बढ़ने पर उसकी छोटी परछाईं उसके आगे फैलती चलती। ज्यों ज्यों वह लैंप से आगे बढ़ता परछाईं की लंबाई बढ़ती जाती, फिर दूसरे लैंप की सीमा में पहुँचते ही परछाईं पलट कर पीछे हो जाती। बीच बीच में वृक्षों की टहनियों की परछाईं उसके ऊपर से होकर निकल जाती। सड़क पर पड़ा हुआ प्रत्येक भीगा पत्ता लैंपों की किरणों का उत्तर दे रहा था। दिलीप सोच रहा था—मनुष्य के बिना भी संसार कितना व्यस्त और रोचक है!

कुछ क़दम आगे बढ़ाने पर उसे किनारे के नीम के वृक्षों की छाया में कोई श्वेत-सी चीज़ दिखायी दी। कुछ और बढ़ने पर मालूम हुआ, कोई छोटा-सा लड़का सफ़ेद कुर्त्ता पायजामा पहिरे, एक थाली सामने रखे कुछ बेच रहा है

बचपन में गली-मुहल्ले के लड़कों के साथ उसने अकसर खोमचेवाले से सौदा खरीद कर खाया था; पर अब उसका उनसे कोई सम्बन्ध न था। परन्तु उस सर्दी में सुनसान सड़क पर, जहाँ कोई आने जानेवाला नहीं, यह खोमचा बेचनेवाला कैसे बैठा है?

खोमचेवाले के क्षुद्र शरीर और आयु ने भी उसका ध्यान आकर्षित किया। उसने यह भी देखा कि रात में सौदा बेचने निकलनेवाले इस सौदागर के पास एक मिट्टी के तेल की डिबरी तक नहीं। समीप आकर उसने देखा, वह लड़का सर्द हवा में सिकुड़ कर बैठा था। दिलीप के समीप

आने पर उसने आशा की एक निगाह उसकी ओर डाली और फिर आँखें झुका लीं।

दिलीप ने और ध्यान से देखा, लड़के के मुख पर खोमचा बेचनेवालों की-सी चतुरता न थी बल्कि उसकी जगह थी, एक कातरता। उसकी थाली भी खोमचे का थाल न होकर घरेलू व्यवहार की एक मामूली हल्की मुरादाबादी थाली थी। तराज़ू भी न था। थाली में कागज़ के आठ टुकड़ों पर पकौड़ों की बराबर बराबर ढेरियाँ लगाकर रख दी गयी थीं।

दिलीप ने सोचा, इस ठण्डी रात में हमीं दो व्यक्ति बाहर हैं। वह उसके पास जाकर ठिठक गया। मनुष्य मनुष्य में कितना भेद होता है? परन्तु मनुष्यत्व एक चीज़ है जो कभी कभी भेद की सब दीवारों को लाँघ जाती है। दिलीप को समीप खड़े होते देख लड़के ने कहा—

'एक एक पैसे में एक एक ढेरी।'

कुछ क्षण चुप रहकर दिलीप ने पूछा—'सब के कितने पैसे'? बच्चे ने उंगली से ढेरियों को गिनकर जवाब दिया—'आठ पैसे।' दिलीप ने केवल बात बढ़ाने के लिए पूछा—'कुछ कम नहीं लेगा?' सौदा बिक जाने की आशा से जो प्रफुल्लता बालक के चेहरे पर आ गयी थी वह दिलीप के इस प्रश्न से उड़ गयी। उसने उत्तर दिया—'माँ बिगड़ेगी।'

इस उत्तर से दिलीप द्रवित हो गया और बोला—'क्या पैसे माँ को देगा?' बच्चे ने हामी भरी।

दिलीप ने कहा—'अच्छा सब दे दो।'

लड़के की व्यस्तता देख दिलीप ने अपना रूमाल निकाल कर दे दिया और पकौड़े उसमें बँधवा लिये।

आठ पैसे का खोमचा बेचने जो उस सर्दी में निकला है उसके घर की

क्या अवस्था होगी? यह सोच कर दिलीप सिहर उठा। उसने जेब से एक रुपया निकाल कर लड़के की थाली में डाल दिया। रुपये की खनखनाहट से वह सुनसान रात गूंज उठी। उस रुपये को देखकर लड़के ने कहा— 'मेरे पास तो पैसे नहीं हैं।'

दिलीप ने पूछा—'तेरा घर कहाँ है?'

'पास ही गली में है'—लड़के ने जवाब दिया।

दिलीप के मन में ऐसे घर को देखने का कौतूहल जग उठा। उसने कहा—'चलो मुझे भी उधर से ही जाना है, रास्ते में तुम्हारे घर से पैसे ले लूँगा।'

बच्चे ने घबराकर कहा—'पैसे उतने तो घर पर भी न होंगे।'

दिलीप सुनकर सिहर उठा, परन्तु उसने उत्तर दिया—'होंगे तुम चलो।'

लड़का ख़ाली थाली को छाती से चिपटाकर आगे चला, और उसके पीछे पीछे बाइसिकिल को थामे दिलीप।

दिलीप ने पूछा—'तेरा बाप क्या करता है?'

लड़के ने उत्तर दिया—'बाप मर गया है।'

दिलीप चुप हो गया। कुछ दूर और जाकर दिलीप ने पूछा—'तुम्हारी माँ क्या करती है?'

लड़के ने उत्तर दिया—'माँ एक बाबू के यहाँ चौका बर्तन करती थी, अब बाबू ने उसे हटा दिया।'

दिलीप ने पूछा—'क्यों, हटा क्यों दिया बाबू ने?'

लड़के ने जवाब दिया—'माँ ढाई रुपया महीना लेती थी, जगत् की माँ ने बाबू से कहा कि वह दो रुपये में सब काम कर देगी। इसलिए बाबू की घरवाली ने माँ को हटाकर जगत् की माँ को रख लिया।'

दिलीप फिर चुप हो गया। लड़का नंगे पैर गली के कीचड़ में छप-छप करता चला जा रहा था, परन्तु दिलीप को कीचड़ से बचकर चलने में असुविधा हो रही थी। लड़के की चाल की गति को कम करने के लिए दिलीप ने फिर प्रश्न किया—'तुम्हें जाड़ा नहीं मालूम होता?'

लड़के ने शरीर को गरम करने के लिए चाल को और तेज़ करते हुए उत्तर दिया—'नहीं'।

दिलीप ने फिर प्रश्न किया—'जगत् की माँ क्या करती थी?'

लड़के ने कहा—'जगत् की माँ स्कूल में लड़कियों को घर से बुला लाती थी; अब स्कूलवालों ने लड़कियों को घर से लाने के लिए लारी रख ली है, उसे निकाल दिया।'

गली के मुख पर कमेटी का बिजली का लैंप जल रहा था। ऊपर की मँज़िल की खिड़कियों से भी गली में कुछ प्रकाश पड़ रहा था। उससे गली का कीचड़ चमक कर किसी क़दर मार्ग दिखायी दे रहा था।

सँकरी गली में एक बड़ी खिड़की के आकार का दरवाज़ा खुला था। उसका धुंधला लाल-सा प्रकाश सामने की पुरानी ईंटों की दीवार पर पड़ रहा था। इसी दरवाज़े में लड़का चला गया।

दिलीप ने झाँक कर देखा, मुश्किल से आदमी के क़द की ऊँचाई की कोठरी में—जैसी प्राय: शहरों में ईंधन रखने के लिए बनी रहती है—मिट्टी के तेल की एक ढिबरी धुआँ उगलती हुई अपना धुँधला-सा प्रकाश फैला रही थी। एक छोटी-सी चारपाई, जैसी कि श्राद्ध में महाब्राह्मणों को दान दी जाती है, काली दीवार के सहारे खड़ी थी। उसके पाये से दो-एक मैले कपड़े लटक रहे थे। एक क्षीण-काय आधी उमर की स्त्री एक मैली-सी धोती में शरीर लपेटे बैठी थी।

बेटे को देख स्त्री ने पूछा—'बेटा, सौदा बिक गया?'

लड़के ने उत्तर दिया—'हाँ, माँ'—और रुपया माँ के हाथ देकर कहा—'बाकी पैसे बाबू को देने हैं।'

रुपया हाथ में लेकर माँ ने विस्मय से पूछा—'कौन बाबू, बेटा?'

बच्चे ने उत्साह से कहा—'बाइसिकलवाले बाबू ने सब सौदा लिया है, उसके पास छुट्टे पैसे नहीं थे, बाबू गली में खड़ा है।'

माँ ने घबराकर कहा—'रुपये के पैसे कहाँ मिलेंगे बच्चा?' और सिर के कपड़े को कुछ आगे बढ़ाकर कहा—'बेटा, रुपया बाबूजी को लौटाकर घर का पता पूछ ले, पैसे कल ले आना।'

लड़का रुपया ले दिलीप को लौटाने आया। दिलीप ने ऊँचे स्वर से, ताकि माँ सुन ले, कहा—'रहने दो रुपया, कोई परवाह नहीं, फिर आ जायगा।'

स्त्री ने सिर के कपड़े को और आगे खींचकर कहा—'नहीं जी आप रुपया लेते जाइये, बच्चा पैसे कल ले आयगा।'

दिलीप ने शरमाते हुए कहा—'रहने दीजिये, यह पैसे मेरी तरफ़ से बच्चे को मिठाई खाने के लिए रहने दीजिये।'

स्त्री नहीं नहीं कहती रह गयी और दिलीप अंधेरे में पीछे हट गया।

स्त्री के मुझांये कुम्हलाये पीले चेहरे पर कृतज्ञता और प्रसन्नता की झलक छा गयी।

रुपया अपनी चादर की खूँट में बाँध, एक ईंट पर रखे पीतल के एक बेले के नीचे से मैले अंगोछे में लिपटी एक रोटी निकाल, बेटे का हाथ धुला उसे खाने को दे दी।

बेटा तुरंत की कमाई से पुलकित हो रहा था। उसने मुँह बनाकर कहा—'ऊँ, ऊँ, रूखी रोटी!'

माँ ने पुचकार कर कहा—'बेटा नमक डाला हुआ है।''

बच्चे ने रोटी ज़मीन पर डाल दी और रूठकर कहा—'सुबह भी रूखी रोटी, हां, रोज़-रोज़ रूखी।'

हाथ आँखों पर रख बच्चा मुँह फैलाकर रोना ही चाहता था कि माँ ने उसे गोद में खींच लिया और कहा—'मेरे राजा बेटा, सुबह ज़रूर दाल खिलाऊँगी। देख, बाबू तेरे लिए रुपया दे गया है। तू तो मेरा राजा है न? सुबह मैं खूब सौदा बना दूँगी, फिर तू रोज़ दाल खाना।'

बेटा रीझ गया। उसने पूछा—'माँ, तूने रोटी खा ली?'

खाली अंगोछे को तहाते हुए माँ ने उत्तर दिया—'हाँ बेटा, अब मुझे भूख नहीं है, तू खा ले!'

भूखी माँ का बेटा बचपन के कारण रूठा था, परन्तु माँ की बात के बावजूद वह घर की हालत से परिचित था। उसने अनिच्छा से रोटी माँ की ओर बढ़ाकर कहा—'यह रोटी तू खा ले।'

माँ ने स्नेह से पुचकार कर कहा—'ना बेटा, मैंने सुबह देर से खायी थी, मुझे भूख नहीं, तू खा।'

दिलीप के लिए और देख सकना संभव न था। दाँतों से होंठ दबा-कर वह पीछे हट गया।

मकान पर आकर वह बैठा ही था, नौकर ने आ तीन चार भद्र पुरुषों के नाम बताकर कहा—आये थे, बैठकर चले गये और खाना तयार होने की सूचना दी। दिलीप ने उसकी ओर बिना देखे ही कहा—'भूख नहीं है।'

उसी समय उसे लड़के की माँ का, 'भूख नहीं' कहना याद आ गया।

नौकर ने विनीत स्वर में पूछा—'थोड़ा दूध ले आऊँ?'

दिलीप को गुस्सा आ गया। उसने विद्रूप से कहा—क्यों, 'भूख न हो तो दूध पिया जाता है। दूध ऐसी फ़ालतू चीज़ है?'

नौकर कुछ समझ न सका। विस्मित खड़ा रहा।

दिलीप ने खीझकर कहा—'जाओ जी!'

मिट्टी के तेल की ढिबरी के प्रकाश में देखा वह दृश्य, उसकी आँखों के सामने से हटना नहीं चाहता था।

छोटे भाई ने आकर कहा—'भाभी ने यह पत्र भेजा है'—और लिफ़ाफ़ा दिलीप की ओर बढ़ा दिया।

दिलीप ने पत्र खोला। पत्र की पहिली लाइन में लिखा था—"मैं इस जीवन में दुख ही देखने के लिए पैदा हुई हूँ ....."

दिलीप ने आगे न पढ़ पत्र को फाड़कर फेंक दिया। उसके माथे पर बल पड़ गये। उसके मुँह से निकला—

'काश! तुम जानतीं, दुख किसे कहते हैं! तुम्हारा यह रसीला दुख तुम्हें न मिले, तो ज़िन्दगी दूभर हो जाय।'

परिशिष्ट

श्री चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी

उसने कहा था

१

बड़े-बड़े शहरों के इक्के-गाड़ीवालों की ज़बान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गयी है और कान पक गये हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर के बम्बूकार्टवालों की बोली का मरहम लगावें। जब बड़े-बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुए इक्केवाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट सम्बन्ध स्थिर करते हैं; कभी राह चलते पैदलों की आँखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अंगुलियों के पोरों को चींथकर अपने ही को सताया हुआ बताते हैं और संसार भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरीवाले, तंग चक्करदार गलियों में, हर एक लड्ढीवाले (गाड़ीवाले) के लिए ठहरकर, सब्र का समुद्र उमड़ा कर 'बचो खालसा जी,' 'हटो भाई जी,'

'ठहरना माई' 'आने दो लाला जी,' 'हटो बाछा,' (बादशाह) कहते हुए सफेद फेंटों, खच्चरों और बत्तकों, गन्ने और खोमचे और भारेवालों के जंगल में से राह खेते हैं। क्या मजाल है कि जी और साहब बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं, चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती है। यदि कोई बुढ़िया बारबार चितौनी देने पर भी लीक से नहीं हटती, तो उनकी वचनावली के ये नमूने हैं—हट जा, जीणे जोगिये; हट जा, करमा वालिये; हठ जा, पुत्तां प्यारिये; बच जा, लम्बी वालिये। समष्टि में इसका अर्थ है कि तू जीने योग्य है, तू भाग्योंवाली है; पुत्रों को प्यारी है, लम्बी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहियों के नीचे आना चाहती है? बच जा।

ऐसे बम्बूकार्टवालों के बीच में होकर एक लड़का और लड़की चौक की एक दूकान पर आ मिले। उसके बालों और इसके ढीले सुथने से जान पड़ता था कि दोनों सिख हैं। वह अपने मामा के केश धोने के लिए दही लेने आया था और यह रसोई के लिए बड़ियाँ। दूकानदार एक परदेशी से गुथ रहा था, जो सेर भर गीले पापड़ों की गड्डी को गिने बिना हटता न था।

'तेरे घर कहाँ हैं?'

'मगरे में;—और तेरे?'

'माँझे में;—यहाँ कहाँ रहती है?'

'अतरसिंह की बैठक में, ये मेरे मामा होते हैं।

'मैं भी मामा के यहाँ आया हूँ, उनका घर गुरुबज़ार में है।'

इतने में दूकानदार निबटा और इनका सौदा देने लगा। सौदा लेकर दोनों साथ-साथ चले। कुछ दूर जाकर लड़के ने मुसकराकर पूछा—'तेरी

कुड़माई (मँगनी) हो गयी?' इस पर लड़की कुछ आँखें चढ़ाकर 'धत्' कहकर दौड़ गयी और लड़का मुँह देखता रह गया।

दूसरे तीसरे दिन सब्ज़ीवाले के यहाँ, दूधवाले के यहाँ, अकस्मात् दोनों मिल जाते। महीना भर यही हाल रहा। दो-तीन बार लड़के ने फिर पूछा—तेरी कुड़माई हो गयी? और उत्तर में वही 'धत्' मिला। एक दिन जब फिर लड़के ने वैसे ही हँसी में चिढ़ाने के लिए पूछा तब लड़की, लड़के की सम्भावना के विरुद्ध बोली—'हाँ, हो गयी।'

'कब?'

'कल; देखते नहीं यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू' (ओढ़नी)—लड़की भाग गयी। लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया, एक छाबड़ीवाले (खोमचेवाले) की दिन भर की कमाई खोयी, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभीवाले के ठेले में दूध उड़ेल दिया। सामने नहाकर आती हुई किसी वैष्णवी से टकराकर अन्धे की उपाधि पायी। तब कहीं घर पहुँचा।

२

'राम राम, यह भी कोई लड़ाई है? दिन-रात ख़न्दकों में बैठे हड्डियाँ अकड़ गयीं। लुधियाने से दस गुना जाड़ा और मेह और बर्फ़ ऊपर से। पिंडलियों तक कीचड़ में धँसे हुए हैं। ग़नीम कहीं दिखाता नहीं;—घंटे दो घंटे में कान के परदे फाड़नेवाले धमाके के साथ सारी ख़न्दक हिल जाती है और सौ-सौ गज़ धरती उछल पड़ती है। इस ग़ैबी गोले से बचे तो कोई लड़े। नगर-कोट का ज़लज़ला सुना था, यहाँ दिन में पचीस ज़लज़ले होते हैं। जो कहीं ख़न्दक से बाहर साफ़ा या कुहनी निकल गयी तो चटाक से गोली लगती है। न मालूम बेईमान मिट्टी में लेटे हुए हैं या घास की पत्तियों में छिपे रहते हैं।'

लहनासिंह, और तीन दिन हैं। चार तो ख़न्दक में बिता ही दिये।

परसों "रिलीफ़" आ जायगी और फिर सात दिन की छुट्टी। अपने हाथों झटका (बकरा मारना) करेंगे और पेट भर खाकर सो रहेंगे। उस फरंगी (फ्रेंच) मेम के बाग़ में मखमल की-सी हरी घास है। फल और दूध की वर्षा कर देती है। लाख कहते हैं, दाम नहीं लेती। कहती है, तुम राजा हो, मेरे मुल्क को बचाने आये हो।'

'चार दिन तक पलक नहीं झँपी। बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही। मुझे तो संगीन चढ़ाकर मार्च का हुक्म मिल जाय। फिर सात जरमनों को अकेला मारकर न लौटूँ तो मुझे दरबार साहब की देहली पर मत्था टेकना नसीब न हो। पाजी कहीं के, कलों के घोड़े—संगीन देखते ही मुँह फाड़ देते हैं और पैर पकड़ने लगते हैं। यों अँधेरे में तीस-तीस मन का गोला फेंकते हैं। उस दिन धावा किया था—चार मील तक एक जर्मन नहीं छोड़ा था। पीछे जनरल साहब ने हट आने का कमान दिया, नहीं तो—'

'नहीं तो सीधे बर्लिन पहुँच जाते। क्यों?' सूबेदार हज़ारासिंह ने मुसकरा कर कहा—'लड़ाई के मामले जमादार या नायक के चलाए नहीं चलते। बड़े अफ़सर दूर की सोचते हैं। तीन सौ मील का सामना है। एक तरफ़ बढ़ गए तो क्या होगा?'

'सूबेदार जी, सच है' लहनासिंह बोला—'पर करें क्या? हड्डियों में जो जाड़ा धँस गया है। सूर्य निकलता नहीं और खाई में दोनों तरफ़ से चम्बे की बावलियों के-से सोते झर रहे हैं। एक धावा हो जाय तो गरमी आ जाय।'

'उदमी (ऊदमसिंह) उठ, सिगड़ी में कोले डाल। वज़ीरा, तुम चार जने बाल्टियाँ लेकर खाई का पानी बाहर फेंको। महासिंह, शाम हो गयी है, खाई के दरवाज़े का पहरा बदला दे।' यह कहते हुए सूबेदार सारी खन्दक में चक्कर लगाने लगे।

वज़ीरासिंह पलटन का विदूषक था। बाल्टी में गँदला पानी भरकर खाई के बाहर फेंकता हुआ बोला—'मैं पाधा (पुरोहित) बन गया हूँ। करो जर्मनी के बादशाह का तर्पण!' इस पर सब खिलखिला पड़े और उदासी के बादल फट गये।

लहनासिंह ने दूसरी बालटी भरकर उसके हाथ में देकर कहा—'अपनी बाड़ी के खरबूज़ों में पानी दो। ऐसा खाद का पानी पंजाब भर में नहीं मिलेगा।'

'हाँ, देश क्या है, स्वर्ग है। मैं तो लड़ाई के बाद सरकार से दस घुमा (जमीन की नाप) ज़मीन यहाँ मांग लूँगा और फलों के बूटे (पेड़) लगाऊँगा।'

'लाड़ी होरां' (पत्नी) को भी यहाँ बुला लोगे? या वही दूध पिलाने-वाली फरङ्गी मेम—'

'चुप कर। यहाँ वालों को शरम नहीं।'

'देस-देस की चाल है। आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख तमाखू नहीं पीते। वह सिगरेट देने में हठ करती है, ओठों में लगाना चाहती है, और मैं पीछे हटता हूँ तो समझती है कि राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुल्क के लिए लड़ेगा नहीं।'

'अच्छा, अब बोधासिंह कैसा है?'

'अच्छा है।'

'जैसे मैं जानता ही न होऊँ। रात भर तुम अपने दोनों कम्बल उसे ओढ़ाते हो और आप सिगड़ी के सहारे गुज़र करते हो। उसके पहरे पर आप पहरा दे आते हो। अपने सूखे लकड़ी के तख्तों पर उसे सुलाते हो, आप कीचड़ में पड़े रहते हो। कहीं तुम न माँदे पड़ जाना। जाड़ा क्या है

मौत है और 'निमोनिया से मरनेवालों को मुरब्बे (नयी नहरों के पास वर्ग-भूमि) नहीं मिला करते।'

'मेरा डर मत करो। मैं तो बुलेल की खड्ड के किनारे मरूँगा। भाई कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और मेरे हाथ के लगाये हुए आँगन के आम के पेड़ की छाया होगी।'

वज़ीरासिंह ने त्योरी चढ़ाकर कहा—'क्या मरने-मारने की बात लगायी है? मरे जर्मनी और तुरक! हाँ भाइयो, कुछ गाओ, हाँ कैसे—

दिल्ली शहर ते पिशौर नूँ जांदिए,
कर लेणा लौंगों दा व्यौपार मंडिये;
कर लेणा नाड़ेदा सौदा अड़िए—
(ओय) लाणा चटाका कदुए नूँ।
कद्दू बणयाए मज़ेदार गोरिये
हुण लाणा चटाका कदुए नूँ॥

कौन जानता था कि दाढ़ियोंवाले, घरबारी सिख ऐसा लुच्चों का गीत गायेंगे? पर सारी खन्दक इस गीत से गूँज उठी और सिपाही फिर ताज़े हो गये, मानों चार दिन से सोते और मौज ही करते रहे हों।

३

दो पहर रात गयी है। अँधेरा है। सन्नाटा छाया हुआ है। बोधासिंह ख़ाली बिसकुटों के तीन टिनों पर अपने दोनों कम्बल बिछाकर और लहनासिंह के दो कम्बल और एक बरानकोट (ओवर कोट) ओढ़कर सो रहा है। लहना-सिंह पहरे पर खड़ा हुआ है। एक आँख खाई के मुख पर है और एक बोधासिंह के दुबले शरीर पर। बोधासिंह कराहा।

'क्यों बोधा भाई, क्या है?'

'पानी पिला दो।'

लहनासिंह ने कटोरा उसके मुँह से लगाकर पूछा—'कहो कैसे हो?' पानी पीकर बोधा बोला—'कँपनी (कँप-कँपी) छूट रही है। रोम-रोम में तार दौड़ रहे हैं। दाँत बज रहे हैं।'

'अच्छा, मेरी जरसी पहन लो।'

'और तुम?'

'मेरे पास सिगड़ी है और मुझे गर्मी लगती है; पसीना आ रहा है।'

'ना, मैं नहीं पहनता; चार दिन से तुम मेरे लिए—'

'हाँ, याद आयी। मेरे पास दूसरी गरम जरसी है। आज सबेरे ही आयी है। विलायत से मेमें बुन-बुनकर भेज रही हैं। गुरु उनका भला करे।' यों कहकर लहना अपना कोट उतारकर जरसी उतारने लगा।

'सच कहते हो?'

'और नहीं झूठ?' यों कहकर नाहीं करते बोधा को उसने ज़बरदस्ती जरसी पहना दी और आप खाकी कोट और ज़ीन का कुरता भर पहनकर पहरे पर आ खड़ा हुआ। मेम की जरसी की कथा केवल कथा थी।

आधा घंटा बीता। इतने में खाई के मुँह से आवाज़ आयी—'सूबेदार हज़ारासिंह!'

'कौन लपटन साहब? हुकुम हुज़ूर'—कहकर सूबेदार तनकर फौजी सलाम करके सामने हुआ।

'देखो, इसी दम धावा करना होगा। मील भर की दूरी पर पूरब के कोने में एक जर्मन खाई है। उसमें पचास से ज़ियादह जर्मन नहीं हैं। इन पेड़ों के नीचे-नीचे दो खेत काटकर रास्ता है। तीन चार घुमाव हैं। जहाँ मोड़ है वहाँ पन्द्रह जवान खड़े कर आया हूँ। तुम यहाँ दस आदमी

छोड़कर सब को साथ ले उनसे जा मिलो। खन्दक छीनकर वहीं, जब तक दूसरा हुक्म न मिले, डटे रहो। हम यहाँ रहेगा।'

'जो हुक्म।'

चुपचाप सब तैय्यार हो गये। बोधा भी कम्बल उतारकर चलने लगा। तब लहनासिंह ने उसे रोका। लहनासिंह आगे हुआ तो बोधा के बाप सूबेदार ने उँगली से बोधा की ओर इशारा किया। लहनासिंह समझकर चुप हो गया। पीछे दस आदमी कौन रहें, इस पर बड़ी हुज्जत हुई। कोई रहना न चाहता था। समझा-बुझाकर सूबेदार ने मार्च किया। लपटन साहब लहना की सिगड़ी के पास मुँह फेरकर खड़े हो गये और जेब से सिगरेट निकाल कर सुलगाने लगे। दस मिनट बाद उन्होंने लहना की ओर हाथ बढ़ाकर कहा—'लो तुम भी पियो'

आँख मारते-मारते लहनासिंह सब समझ गया। मुँह का भाव छिपा कर बोला—'लाओ, साहब।' हाथ आगे करते ही उसने सिगड़ी के उजाले में साहब का मुँह देखा। बाल देखे। तब उसका माथा ठनका। लपटन साहब के पट्टियोंवाले बाल एक दिन में कहाँ उड़ गये और उनकी जगह कैदियों के से कटे हुए बाल कहाँ से आ गये?

शायद साहब शराब पिये हुए हैं, और उन्हें बाल कटवाने का मौक़ा मिल गया है। लहनासिंह ने जाँचना चाहा। लपटन साहब पाँच वर्ष से उसकी रेजिमेंट में थे।

'क्यों साहब, हम लोग हिन्दुस्तान कब जायँगे?'

'लड़ाई ख़त्म होने पर। क्यों क्या यह देश पसंद नहीं?'

'नहीं साहब, शिकार के वे मज़े यहाँ कहाँ? याद है, पारसाल नकली लड़ाई के पीछे हम आप जगाधरी के ज़िले में शिकार करने गये थे'—'हाँ-हाँ' 'वही जब आप खोते (गधे) पर सवार थे और आपका ख़ानसामा अब्दुल्ला

रास्ते के एक मंदिर में जल चढ़ाने को रह गया था?' 'बेशक पाजी कहीं का'—'सामने से वह नीलगाय निकली कि ऐसी बड़ी मैंने कभी न देखी थी। और आपकी एक गोली कन्धे में लगी और पुट्ठे में निकली। ऐसे अफ़सर के साथ शिकार खेलने में मज़ा है। क्यों साहब, शिमले से तैय्यार होकर उस नील गाय का सिर आ गया था ना? आपने कहा था कि रजिमँट की मैस में लगायेंगे।' 'हो, पर मैंने वह विलायत भेज दिया'—'ऐसे बड़े बड़े सींग! दो-दो फुट के तो होंगे?"

'हाँ, लहनासिंह, दो फुट चार इञ्च के थे। तुमने सिगरेट नहीं पिया?'

'पीता हूँ साहब, दियासलाई ले आता हूँ'—कहकर लहनासिंह खन्दक में घुसा। अब उसे संदेह नहीं रहा था। उसने झट-पट निश्चय कर लिया कि क्या करना चाहिए।

अंधेरे में किसी सोनेवाले से वह टकराया।

'कौन? वज़ीरासिंह?'

'हाँ, क्यों लहना? क्या, क़यामत आ गयी? ज़रा तो आँख लगने दी होती?'

४

'होश में आओ। क़यामत आयी और लपटन साहब की वर्दी पहन कर आयी है।'

'क्या?'

'लपटन साहब या तो मारे गये या क़ैद हो गये हैं। उनकी वर्दी पहन कर यह कोई जर्मन आया है। सूबेदार ने इसका मुँह नहीं देखा। मैंने देखा है और बातें की हैं। सोहरा (ससुरा गाली) साफ़ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू। और मुझे पीने को सिगरेट दिया है?'

'तो अब?'

'अब मारे गये। धोखा है। सूबेदार कीचड़ में चक्कर काटते फिरेंगे और यहाँ खाई पर धावा होगा। उधर उन पर खुले में धावा होगा। उठो, एक काम करो। पल्टन के पैरों के निशान देखते-देखते दौड़ जाओ। अभी बहुत दूर न गये होंगे। सूबेदार से कहो कि एकदम लौट आवें। खन्दक की बात झूठ है। चले जाओ, खन्दक के पीछे से निकल जाओ। पत्ता तक न खुड़के। देर मत करो।'

'हुकुम तो यह है कि यहीं—'

'ऐसी तैसी हुकुम की! मेरा हुकुम, जमादार लहनासिंह जो इस वक्त यहाँ सब से बड़ा अफ़सर है, उसका हुकुम है। मैं लपटन साहब की खबर लेता हूँ।'

'पर यहाँ तो तुम आठ ही हो।'

'आठ नहीं, दस लाख। एक एक अकालिया सिख सवा लाख के बराबर होता है। चले जाओ।'

लौटकर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चिपक गया। उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से बेल के बराबर तीन गोले निकाले। तीनों को जगह-जगह खन्दक की दीवारों में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार सा बाँध दिया। तार के आगे सूत की एक गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रखा। बाहर की तरफ़ आकर एक दियासलाई जलाकर गुत्थी पर रखने—

बिजली की तरह दोनों हाथों से उल्टी बन्दूक को उठाकर लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तानकर दे मारा। धमाके के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी। लहनासिंह ने एक कुन्दा साहब की गर्दन पर मारा और साहब 'आँख! मीन गौट्ट' (हाय! मेरे राम! जर्मन) कहते हुए चित्त हो गये। लहनासिंह ने तीनों गोले बीनकर खन्दक के बाहर फेंके और साहब को घसीटकर सिगड़ी के पास लिटाया। जेबों की तलाशी ली। तीन-चार लिफाफ़े और एक डायरी निकालकर उन्हें अपनी जेब के हवाले किया।

साहब की मूर्छा हटी। लहनासिंह हँसकर बोला—'क्यों लपटन

साहब ? मिज़ाज कैसा है ? आज मैंने बहुत बातें सीखीं। यह सीखा कि सिख सिगरेट पीते हैं। यह सीखा कि जगाधरी के ज़िले में नीलगायें होती हैं और उनके दो फुट चार इञ्च के सींग होते हैं। यह सीखा कि मुसलमान खानसामा मूर्तियों पर जल चढ़ाते हैं और लपटन साहब खोते पर चढ़ते हैं। पर यह तो कहो, ऐसी साफ़ उर्दू कहाँ से सीख आये ? हमारे लपटन साहब तो बिना 'डेम' के पाँच लफ़्ज़ भी नहीं बोला करते थे।'

लहना ने पतलून की जेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने मानों जाड़े से बचाने के लिए, दोनों हाथ जेबों में डाले।

लहनासिंह कहता गया—'चालाक तो बड़े हो पर, माँझे का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है। उसे चकमा देने के लिए चार आँखें चाहिए। तीन महीने हुए एक तुरकी मौलवी मेरे गाँव में आया था। औरतों को बच्चे होने की तावीज़ बाँटता था और बच्चों को दवाई देता था। चौधरी के बड़ के नीचे मंजा (खटिया) बिछाकर हुक्का पीता रहता था और कहता था जर्मनीवाले बड़े पंडित हैं। वेद पढ़-पढ़कर उसमें से विमान चलाने की विद्या जान गये हैं। गौ को नहीं मारते। हिन्दुस्तान में आ जायँगे तो गोहत्या बन्द कर देंगे। मंडी के बनियों को बहकाता था कि डाकखाने से रुपये निकाल लो; सरकार का राज्य जानेवाला है। डाक-बाबू पोल्हूराम भी डर गया था। मैंने मुल्लाजी की दाढ़ी मूड़ दी थी। और गाँव से बाहर निकाल कर कहा था कि जो मेरे गाँव में अब पैर रक्खा तो—'

साहब की जेब में से पिस्तौल चला और लहना की जाँघ में गोली लगी। इधर लहना की हेनरी मार्टिनी के दो फायरों ने साहब की कपाल-क्रिया कर दी। धड़ाका सुनकर सब दौड़ आये।

बोधा चिल्लाया 'क्या है ?' लहनासिंह ने उसे तो यह कहकर सुला दिया कि 'एक हड़का हुआ कुत्ता आया था, मार दिया' और, औरों से सब हाल कह दिया। सब बन्दूकें लेकर तैयार हो गये। लहना ने साफ़ा फाड़-

कर घाव के दोनों तरफ़ पट्टियाँ कसकर बाँधीं। घाव माँस में ही था। पट्टियों के कसने से लहू निकलना बंद हो गया।

इतने में सत्तर जर्मन चिल्लाकर खाई में घुस पड़े। सिक्खों की बन्दूकों की बाढ़ ने पहले धावे को रोका। दूसरे को रोका। पर यहाँ थे आठ (लहनासिंह तक-तक कर मार रहा था—वह खड़ा था, और, और लेटे हुए थे) और वे सत्तर। अपने मुर्दा भाइयों के शरीर पर चढ़कर जर्मन आगे घुसे आते थे। थोड़े से मिनिटों में वे—

अचानक आवाज़ आयी "वाह गुरू जी की फतह! वाह गुरू जी का खालसा।" और धड़ाधड़ बन्दूकों के फ़ायर जर्मनों की पीठ पर पड़ने लगे। ऐन मौक़े पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच में आ गये। पीछे से सूबेदार हज़ारासिंह के जवान आग बरसाते थे और सामने लहनासिंह के साथियों के संगीन चल रहे थे। पास आने पर पीछेवालों ने भी संगीन पिरोना शुरू कर दिया।

एक किल्कारी और—'अकाल सिक्खां दी फौज आयी! वाह गुरू जी दी फतह! वाह गुरू जी दा खालसा! सत श्री अकाल पुरख!!!' और लड़ाई खतम हो गयी। तिरेसठ जर्मन या तो खेत रहे थे या कराह रहे थे। सिक्खों में पन्द्रह के प्राण गये। सूबेदार के दाहने कन्धे में से गोली आर-पार निकल गयी। लहनासिंह की पसली में एक गोली लगी। उसने घाव को खन्दक की गीली मट्टी से पूर लिया और बाकी का साफ़ा कसकर कमरबन्द की तरह लपेट लिया। किसी को ख़बर न हुई कि लहना को दूसरा घाव—भारी घाव—लगा है।

लड़ाई के समय चाँद निकल आया था; ऐसा चाँद, जिसके प्रकाश से संस्कृत-कवियों का दिया हुआ 'क्षयी' नाम सार्थक होता है। और हवा ऐसी चल रही थी जैसी कि बाणभट्ट की भाषा में 'दन्तवीणोपदेशाचार्य' कहलाती। वज़ीरासिंह कह रहा था कि कैसे मन-मन भर फ्रांस की भूमि मेरे बूटों से चिपक रही थी जब मैं दौड़ा-दौड़ा सूबेदार के पीछे गया था। सूबेदार लहनासिंह से

सारा हाल सुन और कागज़ात पाकर उसकी तुरत-बुद्धि को सराह रहे थे और कह रहे थे कि तू न होता तो आज सब मारे जाते।

इस लड़ाई की आवाज़ तीन मील दाहिनी ओर की खाईवालों ने सुन ली थी। उन्होंने पीछे टेलीफ़ोन कर दिया था। वहाँ से झटपट दो डाक्टर और दो बीमार ढोने की गाड़ियाँ चलीं, जो कोई डेढ़ घण्टे के अन्दर-अन्दर आ पहुँचीं। फील्ड-अस्पताल नज़दीक था। सुबह होते-होते वहाँ पहुँच जायँगे, इसलिए मामूली पट्टी बाँधकर एक गाड़ी में घायल लिटाये गये और दूसरी में लाशें रक्खी गयीं। सूबेदार ने लहनासिंह की घाव में पट्टी बँधवानी चाही। पर उसने यह कहकर टाल दिया कि थोड़ा घाव है सबेरे देखा जायगा। बोधासिंह ज्वर में बर्रा रहा था। वह गाड़ी में लिटाया गया। लहना को छोड़कर सूबेदार जाते नहीं थे। यह देख लहना ने कहा—

'तुम्हें बोधा की क़सम है और सूबेदारनी जी की सौगन्ध है जो इस गाड़ी में न चले जाओ।'

'और तुम?'

'मेरे लिए वहाँ पहुँचकर गाड़ी भेज देना। और जर्मन मुर्दों के लिए भी तो गाड़ियाँ आती होंगी। मेरा हाल बुरा नहीं है। देखते नहीं मैं खड़ा हूँ? वज़ीरासिंह मेरे पास है ही।'

'अच्छा पर—'

'बोधा गाड़ी पर लेट गया? भला। आप भी चढ़ जाओ। सुनिये तो, सूबेदारनी होराँ को चिट्ठी लिखो तो मेरा मत्था टेकना लिख देना। और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझसे जो उसने कहा था वह मैंने कर दिया।'

गाड़ियाँ चल पड़ी थीं। सूबेदार ने चढ़ते-चढ़ते लहना का हाथ पकड़कर कहा 'तूने मेरे और बोधा के प्राण बचाये हैं। लिखना कैसा? साथ ही घर चलेंगे। अपनी सूबेदारनी से तू ही कह देना। उसने क्या कहा था?'

'अब आप गाड़ी पर चढ़ जाओ। मैंने जो कहा वह लिख देना और कह भी देना।'

गाड़ी के जाते ही लहना लेट गया। 'वज़ीरा, पानी पिला दे और मेरा कमरबन्द खोल दे। तर हो रहा है।'

५

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ़ हो जाती है। जन्म-भर की घटनाएँ एक-एक करके सामने आती हैं। सारे दृश्यों के रंग साफ़ होते हैं; समय की धुंध बिलकुल उन पर से हट जाती है।

* * * *

लहनासिंह बारह वर्ष का है। अमृतसर में मामा के यहाँ आया हुआ है। दहीवाले के यहाँ, सब्ज़ीवाले के यहाँ, हर कहीं, उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है। जब वह पूछता है तेरी कुड़माई हो गयी? तब 'धत्' कहकर वह भाग जाती है। एक दिन उसने वैसा ही पूछा तो उसने कहा 'हाँ, कल हो गयी, देखते नहीं यह रेशम के फूलोंवाला सालू?' सुनते ही लहनासिंह को दुख हुआ। क्रोध हुआ। क्यों हुआ?

'वज़ीरासिंह पानी पिला दे।'

* * * *

पच्चीस वर्ष बीत गये। अब लहनासिंह नं. ७७ रफैल्स में जमादार हो गया है। उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा। न मालूम वह कभी मिली थी या नहीं। सात दिन की छुट्टी लेकर ज़मीन के मुक़द्दमे की पैरवी करने वह अपने घर गया। वहाँ रेजिमेंट के अफ़सर की चिट्ठी मिली कि फौज लाम पर जाती है। फौरन चले आओ। साथ ही सूबेदार हज़ारासिंह की चिट्ठी मिली कि मैं और बोधासिंह भी लाम पर जाते हैं। लौटते हुए हमारे घर होते जाना। साथ चलेंगे। सूबेदार का गाँव रास्ते में पड़ता था और सूबेदार उसे बहुत चाहता था। लहनासिंह सूबेदार के यहाँ पहुँचा।

जब चलने लगे, तब सूबेदार बेढ़े (ज़नाने) में से निकलकर आया।

बोला—लहना, सूबेदारनी तुमको जानती हैं। बुलाती हैं। जा मिल आ। लहनासिंह भीतर पहुँचा। सूबेदारनी मुझे जानती है? कब से? रेजिमेंट के क्वार्टरों में तो कभी सूबेदार के घर के लोग रहे नहीं। दरवाज़े पर जाकर 'मत्था टेकना' कहा असीस सुनी। लहनासिंह चुप।

'मुझे पहचाना?'

'नहीं।'

'तेरी कुड़माई हो गयी?—धत्-कल हो गयी—देखते नहीं रेशमी बूटों-वाला सालू—अमृतसर में—'

भावों की टकराहट से मूर्छा खुली। करवट बदली। पसली का घाव बह निकला।

'वज़ीरा, पानी पिला'—'उसने कहा था'।

* * * *

स्वप्न चल रहा है। सूबेदारनी कह रही है—'मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया। एक काम कहती हूँ। मेरे तो भाग फूट गये। सरकार ने बहादुरी का खिताब दिया है, लायलपुर में ज़मीन दी है, आज नमकहलाली का मौक़ा आया है। पर सरकार ने हम तीमियों (स्त्रियों) की एक घँघरिया पलटन क्यों न बना दी जो मैं भी सूबेदार जी के साथ चली जाती? एक बेटा है। फ़ौज में भर्ती हुए उसे एक ही बरस हुआ। उसके पीछे चार और हुए, पर एक भी नहीं जिया।' सूबेदारनी रोने लगी। 'अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग! तुम्हें याद है, एक दिन टाँगेवाले का घोड़ा दहीवाले की दूकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाये थे। आप घोड़े की लातों में चले गये थे और मुझे उठाकर दूकान के तख़्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनों को बचाना। यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे मैं आँचल पसारती हूँ।'

रोती-रोती सूबेदारनी ओबरी (अन्दर की कोठरी) में चली गयी। लहना भी आँसू पोंछता हुआ बाहर आया।

'वज़ीरासिंह, पानी पिला,—' उसने कहा था।'

*　　　*　　　*　　　*

लहना का सिर अपनी गोद में रक्खे वज़ीरासिंह बैठा है। जब माँगता है, तब पानी पिला देता है। आध घंटे तक लहना चुप रहा, फिर बोला—

'कौन? कीरतसिंह?'

वज़ीरा ने कुछ समझकर कहा, 'हाँ'।

'भइया, मुझे और ऊँचा कर ले। अपने पट्ट (जाँघ) पर मेरा सिर रख ले।' वज़ीरा ने वैसा ही किया।

'हाँ' अब ठीक है। पानी पिला दे। बस। अब के हाड़ (आषाढ़) में यह आम खूब फलेगा। चाचा भतीजा दोनों यहीं बैठकर आम खाना। जितना बड़ा तेरा भतीजा है, उतना ही यह आम है। जिस महीने में उसका जन्म हुआ था, उसी महीने में मैंने इसे लगाया था।'

वज़ीरासिंह के आँसू टप-टप टपक रहे थे।

*　　　*　　　*　　　*

कुछ दिन पीछे लोगों ने अखबारों में पढ़ा—फ्रांस और बेलजियम—६८ वीं सूची—मैदान में घावों से मरा—नं० ७७ सिख राइफल्स जमादार लहनासिंह।

